आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त

प्रथम बार : १९५२

: मूल्य २॥)
सजिल्द ३[illegible])

अपनी बात

यह पुस्तक कई वर्षों तक लिखे मेरे आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। इनका लेखन-काल लगभग सन् १६४६ से आज तक है। इन निबन्धों में कुछ सैद्धान्तिक हैं और कुछ लेखक के अपने दृष्टिकोण से विविध साहित्यिक धाराओं और रचनाओं को देखने का प्रयास हैं। स्फुट निबन्धों का संग्रह होने के कारण पुस्तक एक ही तार में नहीं बँधी है। फिर भी लेखक की आशा है कि इन निबन्धों में हिन्दी के पाठकों को काम की कुछ बातें मिलेंगी और वे इस संग्रह की अनेक त्रुटियाँ क्षमा कर सकेंगे।

इलाहाबाद

लेखक की अन्य रचनाएँ

१. नया हिन्दी साहित्य—प्रकाशक : सरस्वती प्रेस, बनारस।

२. पुरानी स्मृतियाँ—प्रकाशक : इंडिया पबलिशर्स, इलाहाबाद।

अप्रकाशित

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—('प्रदीप' प्रकाशन के पास)

२. नए स्केच।

सूची

भाग १

कला और समाज

"कला की उत्पत्ति समाज से होती है, जैसे मोती की सीपी से; और कला से बाहर खड़े होने का मतलब समाज के अन्दर खड़ा होना है।"

—कॉडवेल

: १ :

साहित्य मनुष्य की प्राचीनतम अभिव्यक्तियों में से एक है। इसने दीर्घ-काल से अपनी रूप-रेखा में एक स्थिरता रक्खी है। शब्दों द्वारा साहित्य मानवी अनुभूति और विचार अभिव्यक्त करता है, जो मनुष्य ने प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष में विकसित किये हैं। फिर भी यथार्थ से टक्कर खाकर जैसे-जैसे मनुष्य की चेतना तीव्र हुई है और बदली है, साहित्य के रूप-रंग में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं, और हुआ करते हैं। इसलिए समस्त मानवी साहित्य और कला के लिए, जिसमें इतने परिवर्तन और क्रान्तियाँ हुई हैं, एक ही जड़ परिभाषा बनाना बेकार है।

ग्रीस के विचारक सभी कला-रूपों को जीवन का निरूपण कहते थे। वे कला के सामाजिक दायित्व को महत्व देते थे। कलाकार अभी अपने सामाजिक वातावरण से, जिसमें उसकी कला का स्वाभाविक विकास हुआ था, कट-कर अलग नहीं हुआ था। नाट्य-प्रदर्शन एक सामाजिक क्रिया थी, जिसमें भाग लेना सभी नागरिकों के लिए जरूरी था। हास्य-प्रधान नाटक निम्न सामाजिक वर्गों का निरूपण करते थे, जिनका व्यंग्य द्वारा मूर्खता से उद्धार होता था। साहित्य का उद्देश्य इसी प्रकार का आध्यात्मिक रेचन था।

किन्तु पतनशील समाज में कला का सामाजिक दायित्व अधिकाधिक दब जाता है। कलाकार अपनी रचना में कुछ दार्शनिक तथ्य प्रकट करने लगता है, जिन्हें ध्रुव सत्य समझा जाता है, जैसे शिव और सुन्दर। वह अपने समाज और युग की परिस्थितियों से ऊपर उठने के उपक्रम में खो जाता है और अपनी अभिव्यक्ति को सनातन सत्य समझने लगता है। कलाकार के इस स्वरूप को पिछले वर्षों में घोर दमन के कारण काफ़ी चोट लगी है। हाथी-दाँत की मीनारों में रहने वाली कला गिरती मीनारों की कला बन गई है।

कला की यह व्याख्या कि वह कलाकार के अहम् से निकलती है और सामाजिक यथार्थ से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, अवश्य ही ऊपरी बात है। मानवी संस्कृति के विकास के पीछे सामाजिक श्रम की लम्बी कथा है। इस इतिहास और प्रयास के बिना हमारी कला कभी इतने वैभव और गौरव से नहीं लहलहाती।

इस भ्रम के पीछे आदर्शवाद और भौतिकवाद का प्राचीन संघर्ष है। कला सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं समझी जाती, वरन् कलाकार के दिमाग़ में उपजे किसी दार्शनिक तथ्य का निरूपण मानी जाती है। किन्तु मनुष्य का दिमाग़, जो वंशी के छिद्रों के समान यथार्थ के हर झोंके से झंकृत हो उठता है, स्वयं ही उच्च कोटि का भौतिक पदार्थ है। सामाजिक यथार्थ के साँचे में ही ढलकर मनुष्य के अगणित विचार और भाव निकलते हैं। कलाकार की कल्पना में तपकर वे निखर जाते हैं और बहुमूल्य धातु में परिवर्तित हो जाते हैं।

जीवन की भौतिक परिस्थितियाँ संस्कृति के रूप-प्रकारों को जन्म देती हैं और उन पर महान् प्रभाव डालती हैं। सामाजिक और भौतिक नींव पर मानवी संस्कृति का विशाल ढाँचा खड़ा होता है। हमारे विचार और भाव निरन्तर जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं। इन विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों का निखरा और परिष्कृत रूप हमें कला और संस्कृति में मिलता है। धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला और साहित्य सभी कठोर सामाजिक [illegible]

"जो-कुछ भी किसी समाज का जीवन होता है, जो भी उस समाज के भौतिक जीवन की परिस्थितियाँ होती हैं, उन्हीं के अनुरूप उस समाज के विचार, सिद्धान्त, राजनैतिक आदान-प्रदान और संस्थाएं होती हैं।"[१]

शिकारी जिसने पाषाण-युग में गुफाओं में 'मैमथ' के चित्र बनाये, किसान जिसने मन्दिर बनाये और प्रकृति की शक्ति की पूजा की, सामन्ती सरदार जिसने 'ममताहीन महिला' (La Belle Dame Sans Merci) को अपने गीत सुनाये, और पूँजीपति जो विशाल लौह स्तंभ और रेल-पथ बनाता है, धरती का हृदय बेधकर सोना निकालता है, सिनेमा और रेडियो का निर्माण करता है—ये सब विभिन्न संस्कृतियों की सृष्टि करते हैं जो एक-दूसरे से काफ़ी अलग हैं।

विचारों ने इतिहास में भारी उथल-पुथल की है। मनुष्य हँसते-हँसते उनके लिए फाँसी के तख्ते पर झूल गए हैं। किन्तु विचार ही मनुष्य के भाग्य-निर्माता नहीं होते।

"सामाजिक विचार और सिद्धान्त अनेक प्रकार के होते हैं। एक ओर पुराने विचार और सिद्धान्त होते हैं, जिनका जीवन बीत चुका है और जो समाज की प्रतिगामी शक्तियों के अनुचर हैं। दूसरी ओर नए और अग्रगामी विचार और सिद्धान्त होते हैं, जो समाज की अग्रगामी शक्तियों को पुष्ट करते हैं।

"नये विचार और सिद्धान्तों का तभी जन्म होता है, जब समाज के भौतिक जीवन का विकास नये सामाजिक लक्ष्य प्रस्तुत करता है। किन्तु एक बार जन्म लेकर वे भारी शक्ति बन जाते हैं।"[२]

: २ :

आदिम समाज में कला सामूहिक होती है। जाति की सामूहिक भावनाओं का वह प्रतिबिम्ब होती है और उसकी क्रिया उपयोगितापूर्ण होती है।

---

१. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास।

२. सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास।

जब समाज वर्गों में बँट जाता है, कला का श्रम से सम्बन्ध टूट जाता है और वह अपना सामाजिक रूप खोने लगती है। श्रमजीवी वर्ग, जो शासकों का विराट सांस्कृतिक आडम्बर, उनके रेल-मार्ग, भवन, स्तम्भ, नाटक और सिनेमा-गृह गढ़ने में मदद करता है, उसके उपयोग से सर्वथा अलग रहता है। संस्कृति उसी वर्ग की सम्पत्ति बन जाती है, जो समाज में शासन करता है।

कॉडवेल ने "इल्यूजन और रियलिटी" (Illusion and Rea ity) में लिखा है—"श्रम-विभाजन वर्ग-समाज की स्थापना करता है, जहाँ चेतना शासक-वर्ग में केन्द्रित होती है और जिसका शासन अन्ततः अकर्मण्यता की परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है। इस प्रकार अन्त में कला और श्रम का पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जो कि दोनों के लिए ही घातक है, और वर्गवाद का अन्त ही इसकी औषधि है। किन्तु इस बीच में 'टेकनीक' का अनुपम विकास होता है......"

ग्रीस के दासवादी प्रजातन्त्र का प्रतिरूप हमें पूँजीवादी समाज में भी मिलता है। श्रमजीवी पृथ्वी की अँतड़ियाँ चीरकर सोना निकालते हैं, और मुट्ठी-भर अवकाश-भोगी लोग उसका लाभ उठाते हैं। अपनी बातचीत में लेनिन ने क्लारा जैटकिन (Clara Zatkin) से कहा था—"कला पर हमारे विचारों का कोई महत्त्व नहीं। इस बात का 'कोई महत्त्व नहीं' कि कला लाखों-करोड़ों की आबादी में सौ या हजार आदमियों को क्या देती है। कला जनता की वस्तु है। इसकी जड़ें दूर तक जनता के अन्दर फैलनी चाहिएँ। इसे जनता की भावनाएँ, विचार और इच्छा एकत्रित करके उभारना चाहिए। उसके (जनता के) अन्दर के कलाकारों को जगाना और विकसित करना चाहिए। क्या हम मुट्ठी-भर लोगों के लिए बढ़िया 'केक' तैयार करें, जब कि लाखों किसानों और मजदूरों को रोटी भी नसीब नहीं ?..."

आदिम जाति-समूह में कविता सरल भावनाओं को—जैसे नवान्न के समय हर्ष और शोक—व्यक्त करती थी। कला सामूहिक श्रम का प्रतिकार.

थी। गीत श्रम-भार हलका करता था और तात्कालिक हर्ष की अभिव्यक्ति था। क्रमशः वह जटिल और बहुरूपी बन गया। आदिम अर्थ-व्यवस्था में वह सभी काम करता था, सभी ज्ञान का वाहक था; फिर वह इतिहास, दर्शन, धर्म-शास्त्र, कथा, नाटक आदि शाखाओं में फैल गया। सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति से उसका गीति-काव्य में रूपान्तर हुआ जो व्यक्तिवाद का चरम कला-रूप है।

वर्ग-समाज के विकास के साथ-साथ कला अधिकाधिक दुरूह बन जाती है, उसकी टेकनीक परिष्कृत होती है, और वह अपनी स्वतन्त्र परम्परा और संकेत भाषा और प्रतीक विकसित करती है। जाति के सामूहिक जीवन से भी वह अलग हट जाती है, और उसका निरूपण कलाकार की अहम्‌वादी कल्पनाओं द्वारा होने लगता है। ह्रासोन्मुख पूँजीवादी समाज के कला-रूपों में भावनाओं के आदान-प्रदान का ध्येय भी वह छोड़ देती है। अधिकाधिक वह स्वप्नावस्था का गुण ग्रहण करने लगती-है। कविता, उपन्यास, चित्रकला और संगीत में अभिव्यक्ति के रूपों की अधिकाधिक अव्यवस्था मिलती है; और हम देखते हैं कि नए-नए, चित्र-विचित्रित कला-रूप, जैसे जैज, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, भविष्यवाद आदि लोकप्रिय होते हैं।

. हमारी कला मानो अन्धगुहा में पहुँच कर मुक्ति के लिए छटपटा रही है। सामाजिक- चेतना ही उसे फिर से शक्ति और सजीवता दे सकती है और उसकी रुग्ण आत्मा को स्वस्थ और सबल बना सकती है।

: ३ :

वर्ग-समाज ने संस्कृति का विराट प्रासाद खड़ा किया जो कि अवकाश-भोगी वर्ग के एकांगी प्रयास का फल है। यह संस्कृति वैभवशालिनी, रंग-बिरंगी और बहुरूपिणी थी। इसके भण्डार में मिश्र, चीन, भारत, ग्रीस, रोम और पश्चिमी यूरोप का विराट कलात्मक और आध्यात्मिक प्रयास था—पिरामिड, स्फ़िन्क्स, लेखन-कला, ज्योतिष; छपाई, बारूद, टैन्ग (Tang) और मिंग काल का सुन्दर कला-कौशल, बड़ी दीवार; अजन्ता,

उपनिषद्, संस्कृत-काव्य और नाटक, मुगल चित्र-कला, ताजमहल; पार्थनन का मन्दिर, ऐल्गिन मूर्तियाँ, इलियड और ओडिसी, अकथ साहित्यिक और दार्शनिक भण्डार; रोम का न्याय-शास्त्र, विशाल क्रीड़ा-गृह, वर्जिल का काव्य; मध्यकालीन यूरोप के विराट गिरजे और ज्ञान-विज्ञान; फिर पुनर्जागरण के बाद पूँजीवादी संस्कृति का उच्चतम विकास, लियोनार्डो डा विंची, राफ़ेल, माइकेल ऐञ्जलो, शेक्सपियर, गटे, विक्टर ह्यूगो, न्यूटन, आइन्सटाइन, उपन्यास और सिनेमा की कला का अभ्युत्थान।

संस्कृति में यह युग-परिवर्तन, जिसके पीछे यूरोप की चार शताब्दियों का इतिहास है, उत्पादन के साधनों में महान् क्रान्ति के साथ आया, और इस ने अनन्य सृष्टि-बल मुक्त किया। जीवन और कला के पुराने रूप नष्ट हो गए और नये रूप उनकी जगह प्रगट हुए।

पूँजीवाद अपने समय की महान् क्रान्तिकारी शक्ति रहा है। "इसने ही पहली बार दिखाया कि मनुष्य का बल क्या कर सकता है। इसने मिश्र के पिरामिड, रोम के जलाशय और गौथिक गिरजाघरों से भी बढ़कर आश्चर्य-जनक कार्य किये हैं। इसके प्रयासों के सामने राष्ट्रों की पुरानी यात्राएँ और जिहाद (Crusades) कुछ भी नहीं।"[1]

इतने यत्न से निर्मित पूँजीवादी व्यवस्था अनेक जगह विशृंखल हो रही है। औद्योगिक क्रान्ति द्वारा मुक्त उत्पादन की विराट शक्तियों का पूरा-प्रयोग करने में वह असमर्थ है। न केवल वह विराट जनता को सुसंस्कृत जीवन का अधिकार नहीं देती, किन्तु अधिकाधिक उसे निरन्तर संकट के विरुद्ध युद्ध और फासिज्म जैसे भयानक प्रयोग करने पड़ते हैं। सभी बड़े पूँजीवादी देशों में हम समृद्धि के बीच गरीबी का भूत, अति-उत्पादन का रोग और सम्पत्ति का संगठित विनाश देखते हैं। इन असंगतियों का एक ही उपाय—युद्ध का [illegible] मालूम होता है।

गतिमूलक समाज की ही सजीव उपज है। प्रुस्त, जेम्स जॉयस अथवा टी० एस० इलियट-की रचनाओं में एक फीकापन है, पतझड़ का बीता वैभव है। यह अवसाद सभी आधुनिक बूर्जुआ कला का गुण है। इस कला के ह्रास-गुण पर जॉन स्ट्रेची लिखते हैं:—

"इन लेखकों को ह्रासोन्मुख कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि ऐसी रचनाएँ, चाहे भले या बुरे के लिए, किसी संस्कृति के अन्तिम क्षणों में ही हो सकती हैं। इस प्रकार की रचना सदैव ही किसी युग के आखिरी चरण में होती है। 'बाइजैन्टियन' शब्द, जो इसके लिए गढ़ा गया है, यही व्यक्त करता है। 'ह्रासोन्मुख' विशेषण से हमारा यही तात्पर्य है।"

उनकी रचनाओं से स्वास्थ्य और जीवन का कोई गुण अवश्य ही निकल चुका है। उनकी कला की रंगीनी क्षय-पीड़ित मुख के आलोक की तरह है। इन रचनाओं में एक ऐसा नैराश्य और पराजय का भाव है, जिसकी पुराने लेखकों की दुःखान्त शालीनता से कोई समता नहीं।

अधिकतर आधुनिक साहित्य ऐसी असहायता प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की परिधि में प्रगति की गुंजाइश अब नहीं रही, और मध्य-वर्ग के कलाकार के लिए परियों की कहानियों के अतिरिक्त इस परिस्थिति से बचकर निकलने का कोई मार्ग नहीं रहा।

: ४ :

व्यक्तिवाद पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का जीवन-दर्शन है। व्यक्तिवाद सभी कला-रूपों के विनाश और घोर स्वेच्छाचार में खत्म होता है। प्राचीनतम परम्परा इन नाशवादी प्रयोगों से कला को नहीं बचा सकती।

कवि अपने ही आनन्द और रस के लिए लिखता है। उसकी आत्मा की स्वतन्त्र गति में कोई बाधा न पड़नी चाहिए। यदि उसकी रचना दुर्बोध है तो उसके पास कोई चारा नहीं। उसके पाठक अर्द्धशिक्षित और अ-संस्कृत हैं। उसकी आत्मा की गति स्वतन्त्र है; वायु के समान स्वेच्छा से वह विचरती है। यदि उसके श्रम का फल विरूप अथवा विचित्र है, तो इससे कोई

उपनिषद्, संस्कृत-काव्य और नाटक, मुगल चित्र-कला, ताजमहल: पार्थनन का मन्दिर, ऐल्गिन मूर्तियाँ, इलियड और ओडिसी, अन्य साहित्यिक और दार्शनिक भण्डार; रोम का न्याय-शास्त्र, विशाल क्रीड़ा-गृह, वर्जिल का काव्य; मध्यकालीन यूरोप के विराट गिरजे और ज्ञान-विज्ञान: फिर पुनर्जागरण के बाद पूँजीवादी संस्कृति का उच्चतम विकास, लियोनार्डो डा विंची, राफ़ेल, माइकेल ऐन्जलो, शेक्सपियर, गटे, विक्टर ह्यूगो, न्यूटन, आइन्सटाइन, उपन्यास और सिनेमा की कला का अभ्युत्थान।

संस्कृति में यह युग-परिवर्तन, जिसके पीछे यूरोप की चार शताब्दियों का इतिहास है, उत्पादन के साधनों में महान् क्रान्ति के साथ आया, और इस ने अनन्य सृष्टि-बल मुक्त किया। जीवन और कला के पुराने रूप नष्ट हो गए और नये रूप उनकी जगह प्रगट हुए।

पूँजीवाद अपने समय की महान् क्रान्तिकारी शक्ति रहा है। "इसने ही पहली बार दिखाया कि मनुष्य का बल क्या कर सकता है। इसने मिश्र के पिरामिड, रोम के जलाशय और गौथिक गिरजाघरों से भी बढ़कर आश्चर्य-जनक कार्य किये हैं। इसके प्रयासों के सामने राष्ट्रों की पुरानी यात्राएँ और जिहाद (Crusades) कुछ भी नहीं।"[1]

इतने यत्न से निर्मित पूँजीवादी व्यवस्था अनेक जगह विशृंखल हो रही है। औद्योगिक क्रान्ति द्वारा मुक्त उत्पादन की विराट शक्तियों का पूरा-प्रयोग करने में वह असमर्थ है। न केवल वह विराट जनता को सुसंस्कृत जीवन का अधिकार नहीं देती, किन्तु अधिकाधिक उसे निरन्तर संकट के विरुद्ध युद्ध और फ़ासिज़्म ऐसे भयानक प्रयोग करने पड़ते हैं। सभी बड़े पूँजीवादी देशों में हम समृद्धि के बीच ग़रीबी का भूत, अति-उत्पादन का रोग और सम्पत्ति का संगठित विनाश देखते हैं। इन असंगतियों का एक ही उपाय—युद्ध का महाताण्डव मालूम होता है।

पूँजीवाद का यह संकट उसकी संस्कृति, कला, साहित्य, विज्ञान और दर्शन में भी प्रतिबिम्बित होता है। यह होना अनिवार्य है, क्योंकि संस्कृति

१. कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र

गतिमूलक समाज की ही सजीव उपज है। प्रुस्त, जेम्स जॉयस अथवा टी० एस० इलियट-की रचनाओं में एक फीकापन है, पतझड़ का बीता वैभव है। यह अवसाद सभी आधुनिक बूर्जुआ कला का गुण है। इस कला के ह्रास-गुण पर जॉन स्ट्रेची लिखते हैं:—

"इन लेखकों को ह्रासोन्मुख कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि ऐसी रचनाएँ, चाहे भले या बुरे के लिए, किसी संस्कृति के अन्तिम क्षणों में ही हो सकती हैं। इस प्रकार की रचना सदैव ही किसी युग के आखिरी चरण में होती है। 'बाइजैन्टियन' शब्द, जो इसके लिए गढ़ा गया है, यही व्यक्त करता है। 'ह्रासोन्मुख' विशेषण से हमारा यही तात्पर्य है।"

उनकी रचनाओं से स्वास्थ्य और जीवन का कोई गुण अवश्य ही निकल चुका है। उनकी कला की रंगीनी क्षय-पीड़ित मुख के आलोक की तरह है। इन रचनाओं में एक ऐसा नैराश्य और पराजय का भाव है, जिसकी पुराने लेखकों की दुःखान्त शालीनता से कोई समता नहीं।

अधिकतर आधुनिक साहित्य ऐसी असहायता प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की परिधि में प्रगति की गुंजाइश अब नहीं रही, और मध्य-वर्ग के कलाकार के लिए परियों की कहानियों के अतिरिक्त इस परिस्थिति से बचकर निकलने का कोई मार्ग नहीं रहा।

: ४ :

व्यक्तिवाद पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का जीवन-दर्शन है। व्यक्तिवाद सभी कला-रूपों के विनाश और घोर स्वेच्छाचार में खत्म होता है। प्राचीनतम परम्परा इन नाशवादी प्रयोगों से कला को नहीं बचा सकती।

कवि अपने ही आनन्द और रस के लिए लिखता है। उसकी आत्मा की स्वतन्त्र गति में कोई बाधा न पड़नी चाहिए। यदि उसकी रचना दुर्बोध है तो उसके पास कोई चारा नहीं। उसके पाठक अर्द्धशिक्षित और अ-संस्कृत हैं। उसकी आत्मा की गति स्वतन्त्र है; वायु के समान स्वेच्छा से वह विचरती है। यदि उसके श्रम का फल विरूप अथवा विचित्र है, तो इससे कोई

मतलब नहीं। कला का ध्येय अभिव्यक्ति है, आदान-प्रदान नहीं। उसका पाण्डित्य भी अगाध होता है, और जो पाठक उसके अर्थ समझना चाहता है, उसे अनेक कोष अपने साथ रखने होंगे।

यह स्वाधीनता, जिसका मध्यवर्ग के लेखक को इतना गर्व है, नितान्त भ्रम-मूलक है। वह फ़ौलादी नियमों के शिकंजे में कसा बलि-पशु है, वह नियम जो बाजार का अनुशासन करते हैं। इन नियमों के सामने वह और उसकी रचना आँधी में तिनके के समान है। वह इन सशक्त, भीषण लहरों पर असहाय बूड़ता-उतराता है। लेनिन ने स्वाधीनता के इस मध्य वर्गीय भ्रम के बारे में कठोरता से लिखा है—

"...महाशय मध्य-वर्गीय व्यक्तिवादियो, तुम्हें बताना पड़ेगा कि पूर्ण स्वाधीनता की तुम्हारी बातचीत ढोल की पोल के अलावा कुछ नहीं। धन के बल पर स्थित समाज में, ऐसे समाज में जहाँ असंख्य श्रमजीवी फ़ाकेमस्त हैं और मुट्ठी-भर अमीर अकर्मण्य हैं, वास्तविक और सच्ची 'स्वाधीनता' असम्भव है। लेखक महोदय, क्या आप अपने पूँजीवादी प्रकाशक से स्वाधीन हैं? अपनी मध्यवर्गीय जनता से, जो आपसे उपन्यासों और चित्रों में कोकशास्त्र माँगती है, और 'पवित्र' दृश्य-कलाओं के 'परिच्छेद' रूप में अनैतिकता? पूर्ण स्वाधीनता एक पूँजीवादी अथवा नाशवादी वाक्य मात्र है (क्योंकि विश्व-दर्शन के रूप में नाशवाद पूँजीवाद का ही उल्टा सिक्का है)। समाज में रहकर उससे स्वाधीन रहना असम्भव है। पूँजीवादी लेखक, कलाकार, अभिनेत्री की स्वाधीनता रुपयों की थैली पर, दबी-ढँकी (अथवा छल से दबी-ढँकी) बिक्री और पालन को निर्भरता है।...

"आधुनिक समाज की 'स्वाधीनता' केवल बाजार की स्वाधीनता है, क्रय-विक्रय की स्वाधीनता। यह स्वाधीनता मुटापे से पीड़ित, अकर्मण्यता के शिकार ऊपरी "दस हजार" के काम की ही है। किन्तु उन लाखों-करोड़ों के किसी काम की नहीं जो इस देश के धन हैं, इसकी शक्ति और इसका भविष्य हैं" (लेनिन)। इन असंख्य जीवों के लिए स्वाधीनता केवल मरने, अथवा भूखे मरने की स्वाधीनता है।

'स्वतन्त्र' समाज अपनी जनता को स्वाभिमान से रहने और अपनी प्रतिभा विकसित करने का अधिकार देगा। वह कलाकार को अपनी रचना-शक्ति की बन्धन-मुक्त प्रगति का अवसर देगा। 'स्वतन्त्र' समाज अपने नागरिकों को दैन्य और चिन्ता से मुक्त करता है। व्यक्ति को यह स्वाधीनता सामूहिक संगठित बल से मिलती है। मनुष्य के प्राचीन संघर्ष का इतिहास, भौतिक बन्धनों से मुक्ति पाने का इतिहास है। मनुष्य ने पदार्थ पर अधिकाधिक विजय पाई है। वर्ग-विहीन समाज, जहाँ उत्पादन के साधन पूरे समाज की पूँजी हैं, व्यक्ति-मात्र को अधिकतम स्वाधीनता देगा, यानी अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के अनुरूप विकास का अवसर देगा।

कलाकार ने बीते युगों में स्वाधीनता का भ्रम निरन्तर पाला है। उसकी स्वाधीनता का स्वर्ग ऐसा स्थान है, जहाँ बुद्धिवादी सामन्तों को समाधि लगाने का अनन्त अवकाश है, मानो सहस्रों बुद्ध अपनी नाभि का मनन करते हों और ज्ञान पाते हों।

"पूँजीवादी कवि अपने को व्यक्तिवादी के रूप में देखता है, जो अपने अन्तरतम की शक्ति से जिसे बाह्य रूप-कलाप कुचल रहे हैं, अपना हृदय-बल बाहर की ओर फेंकता है। यह मध्य-वर्गीय स्वप्न है, विश्वलीला के एक ही नायक होने का स्वप्न। वह 'फ्राउस्ट, हैमलेट, रौबिन्सन क्रूसो, सेटन, प्रूफ्राक हैं।"[१]

इस अवस्था का अन्तिम रूप नैराश्य, पराजयवाद, कला में स्वेच्छाचार और अनियामकता है। कलाकार अधिकाधिक अपने अन्तरतम में पैठता है और अपने हृदय के रक्त से लिखने लगता है। कला में नित्य नए वाद प्रगट होते हैं, जो कला के बाह्य रूप की अवहेलना करते हैं, सौंदर्य्यवाद, प्रतीकवाद, कोणवाद, अति-यथार्थवाद आदि।

इस सामाजिक और साहित्यिक दलदल से बाहर निकलने का कोई रास्ता ढूँढना जरूरी था। बुद्धिजीवियों में एक दल ऐसा भी था जो समाज की गति से परिचित था और अग्रगामी शक्तियों का साथ देने के लिए उत्सुक

१—इल्यूज़न एण्ड रियलिटी

था। इस दल के अन्दर समाज में कलाकार के प्रतिष्ठित स्थान के बारे में कोई भ्रम न था। इसने कलाकार की निष्ठा के विरुद्ध फ़ासिज़्म द्वारा किये गये आक्रमण का सामना करने का निश्चय किया। साहित्य की यह दिशा नव-लेखन (New writing के नाम से प्रसिद्ध हुई। सन् १९३२ में कविताओं और व्यंग-रचनाओं का एक संग्रह 'नये हस्ताक्षर' शीर्षक से निकला। संग्रह के कवियों में आडेन, सिसिलडे लुई और स्टीवेन स्पेन्डर थे। भूमिका में माइकेल रॉबर्टस ने लिखा था—

"कवि अपने सामाजिक वातावरण से उपेक्षा करता था, किन्तु कोई पक्का विश्वास, व्यंग के लिए कोई धरातल, न होने के कारण साधारण जीवन से अलग हो गया और दुर्बोध रचनाएं करने लगा, जो या तो छिछली और अलंकारिक थीं, या प्रकाण्ड पाण्डित्य लिए।...कवि के लिए इस विच्छेद से भारी हानि थी। वह कवि जो ठीक बुद्धि, अनुभव और अनुभूतिवाली जनता की अपेक्षा नहीं कर सकता, अच्छी तरह लिख भी नहीं सकता, यदि वह लिख भी सके, क्योंकि लिखने मे वह अपनी कल्पित जनता का अवश्य ध्यान रखता है। इस संग्रह की कविताएं दुर्बोध कविता के विरुद्ध, जिसमें पाठक को प्रत्येक पाण्डित्य प्रदर्शन समझना जरूरी होता है, प्रतिक्रिया हैं।..."

नए कवियों मे सामाजिक शोषण और अन्याय के विरुद्ध गहरी चेतना है और नया समाज गढ़ने मे भाग लेने की प्रबल लालसा। वे समझते हैं कि बीच में रहने का मतलब पराजय है। संसार-भर में शोषक और शोषितों के बीच जो घातक सघर्ष हो रहा है, उसमें बीच में रहना असम्भव है; इस संघर्ष में न दया है, न ममता।

ये कवि पूँजीवाद के विचार-दर्शन में एक दरार हैं। यह दरार बराबर बढ़ती ही जाती है, यद्यपि इसको भरने का भारी प्रयास होता है। अधिकाधिक बुद्धिजीवी, सड़ी पूँजीवादी व्यवस्था से असन्तुष्ट होते जाते हैं, और सर्वहारा का साथ देकर अपनी मानसिक और आध्यात्मिक निष्ठा अटूट रखते

हैं। वे समाजवादी लेखक नहीं हैं, किन्तु उनकी बौद्धिक ईमानदारी उन्हें समाजवाद के शिविर की ओर ठेलती है।

"नव-लेखन" (New writing) के सम्पादक लेमान अपनी पुस्तक 'यूरोप में नया साहित्य' में लिखते हैं:—

"सन् ३० के बाद इस देश और बाहर के लेखक, जो कुछ यूरोप में हो रहा था—जनसत्ता और श्रमजीवी वर्ग के अधिकारों पर आक्रमण, स्वतन्त्र विचारों का दमन और संस्कृति के खिलाफ़ जिहाद, जिसमें जर्मनी में किताबों की होली के समान घटनाएं थीं—उसके सामने, अधिकाधिक यह महसूस करने लगे कि फ़ासिज़्म के विरुद्ध जनता की लड़ाई से सृजनात्मक कलाकार अलग नहीं रह सकते, क्योंकि उसकी भीषण लहरें उन्हें भी डुबाकर ही मानेंगी। 'नये देश' के लिखने वालों के समान मध्यवर्गीय लेखक यह समझने लगे कि फ़ासिज़्म ही भयंकर और भीषण रूप में वह सामाजिक ह्रास था, जिसके भण्डाफोड़ में उन्होंने इतना सब-कुछ लिखा था। उन्होंने अनुभव किया कि अपनी इस भावना को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए उन्हें एक संकुचित पण्डित-वर्ग के लिए ही लिखने की रीति छोड़नी पड़ेगी, उन्हें विद्वत्ता और आपस के मजाक त्यागकर स्पष्ट लिखना होगा।"

कला सम्पूर्ण जनता की पूँजी होनी चाहिए। वर्ग-समाज में वह मुट्ठी-भर लोगों की सम्पत्ति रही है, किन्तु पुरानी समाज-व्यवस्था के टूटने और असंख्य जनता की अज्ञान से मुक्ति के साथ कला की लोकप्रियता अभूतपूर्व होगी। यह कला गुण में बढ़ी-चढ़ी होगी, क्योंकि अतीत की परम्परा इसे उत्तराधिकार में प्राप्त होगी और नवीन चेतना और सौन्दर्य बोध इसमें होगा। पुरानी वर्जनाएं, कलाकार की स्वतन्त्र, सृजनात्मक शक्ति पर आरोपित अनेक बन्धन टूट जायंगे। तब पूर्ण रूप से स्वाधीन होकर वह लिखेगा। इस सम्बन्ध में हम लेनिन के शब्द दोहरा सकते हैं—

"बिना यह समझे कि मनुष्य के सम्पूर्ण इतिहास द्वारा विकसित संस्कृति के ठीक ज्ञान से ही, इसके विश्लेषण से ही सर्वहारा की संस्कृति रची जा सकती है, हम यह समस्या कभी हल न कर सकेंगे। सर्वहारा की संस्कृति

शून्य से नहीं आ टपकती, यह उन लोगों की सृष्टि नहीं जो अपने को सर्वहारा की संस्कृति का विशेषज्ञ कहते हैं। यह बिलकुल अनर्गल बात है। सर्वहारा की संस्कृति उस ज्ञान के पुञ्ज का तर्कसंगत विकास है जो मानवता ने पूँजीवाद के जुए के नीचे इकट्ठा किया है।"

नवीन कला अतीत की सम्पूर्ण विरासत से इस प्रकार परिष्कृत होकर जनता के सम्पर्क से भारी बल पायगी। एण्टियस के समान वह अजेय होगी, क्योंकि उसके पैर धरती पर हैं। इतिहास की गति वह एक आवश्यक पग आगे बढ़ावेगी।

सोवियत संघ में यह नई कला विकसित हो रही है। कला, साहित्य, नाटक अथवा सिनेमा में असंख्य जनता उस सुख और अधिकार में भाग लेती है जो कभी मुट्ठी-भर लोगों तक ही सीमित था। अशिक्षा और अज्ञान की शृंखलाएं टूट रही हैं। कॉडवेल के कथनानुसार सोवियत संघ में कवियों की जनता दस-बीस लाख तक होती है और काव्य-ग्रन्थों की बिक्री का मानवता के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं। क्रमशः कवि की जनता समाज का पर्याय बन जायगी।

इन नई परिस्थितियों में कलाकार का व्यक्तित्व उच्च स्तर की चेतना प्राप्त करेगा, क्योंकि उसके स्वत्व को कुचलने और विरूप करने वाली अवस्थाएँ लोप हो जाती हैं, और उनका स्थान एक स्वस्थ वायुमण्डल लेता है। धन के कुण्ठापूर्ण सम्बन्धों की जगह मनुष्य और मनुष्य का सम्बन्ध बनता है। यह कला जीवन के साथ संघर्ष में मनुष्य का सामाजिक हथियार बनती है। एक बार फिर कला प्रकृति के विरुद्ध सामूहिक संघर्ष का साधन बनती है। इसके माध्यम द्वारा मनुष्य परिस्थिति की नृशंसता से छुटकारापाता है। इसका उदाहरण "वरजिन स्वायल अपटर्न्ड"(virigin soil úpturned) के समान किताबों अथवा सोवियत का हाल का युद्ध-साहित्य है। "कम्युनिस्ट कवि यथार्थ मानव-जीवन के समस्त सम्बन्धों का मान समझना चाहता है, जो इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ।...कम्युनिस्ट कविता सर्वांग होगी, क्योंकि मनुष्य को अपनी

व्यक्तिगत आवश्यकता के साथ-साथ बाहरी दुनिया की भी चेतना होगी।"
—कॉडवेल

सोवियत संघ का साहित्य, जो पूँजीवादी सीमाओं के पार बूँद-बूँद करके आ पाता है, इस आशा से परिपूर्ण है। इसके अन्दर संसार को बदलने और मनुष्य के रहने योग्य स्थान बनाने की सामाजिक चेतना है। इसका कला-कौशल भी दिन-प्रतिदिन प्रस्फुटित हो रहा है, यद्यपि इसे बीस वर्ष के अन्दर शासक-वर्ग की बीस शताब्दियों की प्रगति पकड़नी थी। पुरातन साहित्य में सभी कला-चेतना का एक केन्द्र था। इस चेतना को सर्वहारा की संस्कृति पूरे समाज में पहुँचाना चाहती है। "सर्वहारा की चेतना, जब वह पूँजीवादी चेतना के स्तर तक पहुँचेगी, उससे उच्च गुण की होगी, क्योंकि पूँजीवादी स्वाधीनता और चेतना समाज के एक वर्ग की पूँजी थी और उसी वर्ग की आकांक्षाएँ और ध्येय व्यक्त करती थी। इस कारण पूँजीवादी कला ऐसे मनुष्यों की कला है, जिसके प्राण का अर्द्धांश कट गया है।....महान् समाजवादी कला दोनों के समन्वय से ही बन सकती है, क्रान्ति के बाद सर्वहारा द्वारा पुरानी चेतना के पूर्ण ज्ञान पर, जिससे वह चेतना नए स्तर पर उठ सकेगी, समाजवादी चेतना के स्तर पर। क्योंकि तब सर्वहारा पूरे समाज के साथ एक हो जायगा, यह चेतना अधूरी, और हड्डी से अलग मांस के समान जीवन से दूर नहीं रहेगी। समाज और मनुष्य में इसकी छाया अब टूटी और विकृत नहीं रहेगी। कला जीवन से फिर मिल जाती है, और सभी मनुष्यों के लिए वास्तविक हो जाती है।"

—कॉडवेल

कला के दो रूप

वर्ग-समाज में कला के दो रूप हो जाते हैं। एक कला तो शासक वर्ग की कला होती है, परिष्कृत और प्रौढ़, क्योंकि इस वर्ग के पास संस्कृति और शिक्षा के सभी साधन होते हैं और प्राचीन परम्परा का उत्तराधिकार होता है। असंख्य शासित जनता शिक्षा, संस्कृति आदि से अलग रहती है, इसलिए उसकी कला में अभिजात वर्ग की बारीकियाँ और नफ़ासत नहीं आ सकती, किन्तु उसकी संस्कृति की अपनी धारा अवश्य ही धरती के नीचे-नीचे बहा करती है। इस धारा को हम लोक-संस्कृति कहते हैं, और इसमें अपने अनन्य गुण होते हैं। सभी देशों और जातियों में जनता की अपनी कला होती है, उनके गीत, नृत्य, चित्रकला, नाट्य-कला आदि, जिनके पीछे भी एक लम्बी परम्परा और कहानी है। यह कला जनता के भावों को, उसके दुःख-सुख को, उसके सौन्दर्य-प्रेम को व्यक्त करती है। इस कला के रूप से भी अभिजात वर्ग के कलाकार बहुत-कुछ सीख सकते हैं। इस कला में अभिव्यक्ति की सरलता और अनुभूति की एक सचाई रहती है, जो ह्रास-कालीन उच्च वर्गों की कला के लिए दुर्लभ और दुष्प्राप्य है।

अपने देश में हम जनता की कला का बहुत विकसित रूप सन्त कवियों की रचनाओं में देखते हैं; लगभग उसी युग में दरबारों में पली अभिजात वर्ग की कला का रीतिकालीन रूप भी हम देखते हैं। सन्त कवियों की कला के पीछे मूल रूप से अभिशप्त और त्रस्त जनता के उत्पीड़न की कथा और इस जीवन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया है। यही इस कला की महानता का रहस्य है।

हम देखेंगे कि कला का कोई शाश्वत, चिर-अपरिवर्तित रूप नहीं होता। अनेक युगों, जातियों और वर्गों में इसके अनेक रूप होते हैं, जो

सतत परिवर्तनशील हैं। आदिम काल मे मनुष्य अपने सौन्दर्य-बोध से अपनी गुफा की दीवार सजाता था, जिन जानवरों का वह शिकार खेलता था, उनके चित्र बनाता था, प्रकृति के देवताओं को प्रसन्न करने के लिए गीत गाता था, नृत्य में अपनी जीवन की अनुभूति प्रगट करता था, अनेक रंग-बिरंगे धागों से जीवन का निरूपण करता था। इस आदिम समाज में वर्ग-भेद न था और इस कला में भी अविच्छिन्न एकता थी। पूरा समाज इस कला में भाग लेता था।

आदिम समाज के अन्त होने पर वर्ग-समाज का उत्थान होता है, जब कला और संस्कृति मूलतः शासक वर्ग की सम्पत्ति बन जाती हैं। इस कला का अभूतपूर्व विकास शासक वर्ग करता है, लेकिन इस कला में शासक वर्ग की भावनाएँ और अनुभूति ही अधिकतर रहती हैं। वर्ग-कला को इतिहास के कई काल-खण्डों में हम बाँट सकते हैं—कृषि युग की कला, सामन्ती युग की कला और पूँजीवादी युग की कला। वर्ग-कला के चिर-स्मारक पिरामिड, यूनान की मूर्तिकला, भारत का काव्य और नाट्य-साहित्य, प्राचीन मन्दिर *और गिरजे, ताजमहल, शेक्सपियर, गेटे, टॉल्सटॉय आदि हैं। समाजवादी* कला एक बार फिर पूरे समाज की कला होती है, जबकि वर्ग-संस्कृति की गङ्गा शोषितों की भूगर्भ में दबी कला की सरस्वती से मिलती है।

वर्ग-कला का विकास सदा ही एक समान नहीं होता। इसमें उत्थान और पतन, प्रगति और ह्रास के क्षण होते हैं। जब पुराने युग का अस्त और नए का उदय होता है, तो कला भी इन दो रूपों में प्रगट होती है। कला का एक रूप प्राचीन के साथ जुड़ा होता है और उसमें ह्रास के सब लक्षण प्रगट होते हैं; दूसरा रूप नवीन के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है और प्रगति का पथ अपनाता है।

हिन्दी साहित्य के हर युग में प्राचीन और नवीन का यह संघर्ष हम देखते हैं। वीर-काव्य और भक्ति-काव्य में, भक्ति-काव्य और दरबारी काव्य में, और अन्त में दरबारी काव्य और खड़ी बोली के साहित्य में। खड़ी बोली का साहित्य भारत के आधुनिक युग का साहित्य है। अपने उत्थान काल में

इस साहित्य को रीतिकालीन परम्पराओं के विरुद्ध भीषण संघर्ष करना पड़ा। नए साहित्य को पुराने आचार्यों के कोप का भाजन बनना पड़ा। अन्त में पन्त ने 'वीणा' की भूमिका लिखकर इस वाग्युद्ध को समाप्त किया। आज जब पुराने समाज के गर्भ में नवीन जन्म लेने के लिए छटपटा रहा है, हम उसी विरोध की पुनरावृत्ति देखते हैं। विरोधी बदल गए हैं। कल के विद्रोही आज नए साहित्य को राजनीति और प्रचार कहकर उसका तिरस्कार करते हैं। लेकिन प्रगति के पथ पर आरूढ़ नया साहित्य आगे बढ़ता ही जाता है।

इस सम्बन्ध में स्टालिन के शब्द स्मरणीय हैं। आप द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की विवेचना करते हुए लिखते हैं:—

"कई तरह के सामाजिक विचार और सिद्धान्त होते हैं। एक ओर पुराने विचार और सिद्धान्त होते हैं, जिनके दिन बीत चुके हैं, और जो समाज की रूढ़िबद्ध शक्तियों के हितों की सेवा करते हैं। उनकी अहमियत यही है कि वे समाज के विकास को, उसकी प्रगति को रोकते हैं। दूसरी ओर नए और आगे बढ़े हुए विचार और सिद्धान्त होते हैं, जो समाज की प्रगतिशील शक्तियों के हितों की सेवा करते हैं। उनकी अहमियत यह है कि वे समाज के विकास, उसकी प्रगति में सहायक होते हैं; और उनका महत्व उतना ही ज्यादा होता है, जितनी सचाई से वे समाज के भौतिक जीवन के विकास की आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं।

"नए सामाजिक विचार और सिद्धान्त तभी उठते हैं, जब समाज के भौतिक जीवन का विकास समाज के सामने नए कर्तव्य रखता है। लेकिन एक बार उठने के बाद वे एक बड़ी भारी शक्ति बन जाते हैं, जो समाज के भौतिक जीवन के विकास द्वारा प्रस्तुत किये गए कर्तव्यों को पूरा करने में मदद करते हैं, ऐसी शक्ति जो समाज की प्रगति में सहायक होती है।"

आज कला और संस्कृति में प्राचीन और नवीन का यही संघर्ष हम देख रहे हैं, मृत विचारों और सिद्धान्तों का जीवन-भार से आकुल नवीन विचारों और सिद्धान्तों से संघर्ष। आज कला और संस्कृति दो दलों में बँट

गई हैं। अपने देश में और विदेशों में भी इन दो दलों को हम साफ़ देखते हैं।

एक ओर तो शासक-वर्ग की व्यवसायी और विलासी कला है, जो जनता के लिए अफ़ीम के समान है। यह कला निराशा और पराजय की भावनाओं को आश्रय देती है; यह व्यक्तिवाद और अहंवाद को पराकाष्ठा तक पहुँचा देती है, जहाँ कला दुर्बोध और अज्ञेय हो जाती है। रहस्यवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद आदि नाना रूप वह धारण करती है। साम्प्रदायिकता, राष्ट्रवाद आदि संकीर्ण मनोवृत्तियों को वह बढ़ावा देती है। हॉलीवुड के फ़िल्म, जासूसी कहानियाँ, अश्लील यौन-कला आदि इस पतनशील संस्कृति के कुछ रूप हैं। यह अभिजात वर्ग की कला में संकट के लक्षण हैं। अपने मृत्यु-काल के समीप पहुँच कर आज का शासक-वर्ग जीवन को सारहीन और निरर्थक पाता है। साथ ही क्रांति की उभरती शक्तियों को वह दबाकर रखने की कोशिश भी करता है। इसीलिए पश्चिम के देशों में चार्ली चैपलिन, पाब्लो नेरूदा और हार्वड फ़ास्ट दमन के शिकार होते हैं, और भारत में यशपाल, अली सरदार जाफ़री, कृष्णचन्द्र और नागार्जुन। इन प्रगतिशील कलाकारों की कला समाज की नई क्रान्ति-कारी शक्ति की परिचायक है, इसीलिए पुराने शासक इसके विरुद्ध दमन का चक्र चलाते हैं।

हिन्दी साहित्य में भी हम यह प्रतिगामी धाराएँ बढ़े-चढ़े रूप में देखते हैं। वर्ग-संघर्ष जब तीव्रतम होता है, तो बीच में खड़े रहना दूभर हो जाता है। शासक-वर्ग अपनी पूरी शक्ति ढुलमुल बुद्धिजीवी वर्ग को अपने पीछे घसीटने में लगा देता है। आर्थिक कठिनाइयों के शिकार अनेक लेखक अपनी क़लम बेचने पर मजबूर होते हैं, लेकिन यहीं उनकी कला का अन्त भी होता है। इसके विपरीत अनेक कलाकार समाज की प्रगतिशील ताक़तों से भी सम्बन्ध जोड़ते हैं, और यह उनकी कला में नए प्राण-बल की सूचना होती है।

आज के कुछ प्रमुख पत्र पानी पी-पीकर प्रगतिशील कला को कोसते

हैं, किन्तु इतिहास ने इनके लिए ज़ारशाही और चियाँगशाही के साथ स्थान सुरक्षित रख छोड़ा है। राजनीति और प्रचार से परहेज़ करने वाले इस साहित्य को किसान और मज़दूर की राजनीति और कला से परहेज़ है, शोषक-वर्ग के प्रचार और राजनीति से नहीं।

एक ज़माने में जार्ज पंचम की जय बोलना राजनीति नहीं समझा जाता था, महात्मा गान्धी की जय बोलना राजनीति था। शोषक-वर्ग की राजनीति कला होती है, शोषित वर्ग की कला राजनीति होती है। आप किसी नेता की प्रशस्ति लिखिए, अभिनन्दन ग्रन्थ का संकलन कीजिए, अपने काव्य में साम्प्रदायिकता का प्रचार कीजिए, सत्ताधारियों के गुण गाइए, व्यवसाय के लिए चलताऊ चीज़ गान्धीजी के नाम पर लिखिए, तो यह राजनीति और प्रचार नहीं है, किन्तु सर्वहारा की जय का नारा बुलन्द करने वाली कला राजनीति और प्रचार है!

कला के दोनों रूपों की आवृत्ति हम हिन्दी साहित्य में देख रहे हैं। एक ओर अभिजात-वर्ग की कला है, जो रहस्यवाद, निराशावाद, व्यक्तिवाद और नाशवाद का प्रचार करती है, जो शासक-वर्ग की क्रीत दासी है और सर्वहारा के विरुद्ध हथियार बन गई है, किन्तु जो ह्रास के गढ़े में गिर चुकी है और कोई बनाव-सिंगार जिसके प्राण का सम्बल नहीं बन सकता।

दूसरी ओर जनता की कला है, जो दो धाराओं का संगम है, लोक-कला की भूगर्भ में दबी धारा का उच्चवर्गीय कला से फूटी प्रगतिशील धारा का संगम। जनता की कला का एक पक्ष है, किसान-मज़दूर कवियों के लोक-गीत और उनके लोक-नृत्य आदि जिन्हें प्रकाश में लाने का श्रेय जन-आन्दोलनों को और प्रगतिशील सांस्कृतिक संस्थाओं को है। जनता के साथ बुद्धिजीवियों का भी एक बड़ा जत्था अपने वर्ग से टूटकर आता है। इन्हें अभिजात-वर्ग की संस्कृति के ह्रास की सूचना मिल चुकी है, और वे समाज की प्रगतिशील शक्तियों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं।

प्राचीन संस्कृति फ़ासिज़्म की ओर जा रही है; उसका सन्देश मरण है। नवीन संस्कृति जनवाद और विश्व-शान्ति की ओर उन्मुख है और

उसका सन्देश जीवन और प्रगति है। शासक-वर्ग की संस्कृति आज बहु-संख्यक जनता के सुख और समृद्धि की परिचायक नहीं है; वह उत्पीड़न और शोषण का पर्याय बन गई है। नई संस्कृति ही आज असंख्य जनता के असीम विकास का द्वार खोल सकती है, अतएव यह अनिवार्य है कि कला की प्रगतिशील धारा बढ़े और बलवती हो। पुरातन की थाती में जो कुछ संचय करने योग्य है, उसे लेकर वह आगे बढ़ेगी। एक बार फिर वर्गहीन समाज में परम्परागत कला और जन-कला का मिलन होगा; तब कला में प्रागैतिहासिक युग समाप्त होगा और ऐतिहासिक युग शुरू होगा। वर्ग-हीन समाज की उस विराट संस्कृति की आज कुछ कल्पना ही हम कर सकते हैं, उसकी रूपरेखा तो आगे चलकर ही स्पष्ट होगी। यह रूपरेखा क्या होगी, इसका आभास हम सोवियत जन-संस्कृति में पाते हैं, जहाँ सम्पूर्ण जनता कला और संस्कृति के निर्माण में भाग लेती है, और उसका उपभोग करती है।

साहित्य और परम्परा

समाज, संस्कृति, कला, भाषा आदि के विकास की एक लम्बी कथा और परम्परा है; इस परम्परा के आधार पर विचार, आदर्श, कला आदि बढ़ते हैं। बड़े प्रयोगशील कलाकार भी अपने प्राचीन इतिहास को सर्वथा नहीं भुला सकते। वे उन शब्दों, ध्वनियों, रागों का प्रयोग करते हैं, जिनके पीछे सदियों के विकास की परम्परा है। कॉडवेल के शब्दों में "बन्दर के लिए अथवा माउग्ली के भेड़िये द्वारा पले मनुष्य के लिए गुलाब खाने की वस्तु अथवा एक चटख रंगमात्र हो सकता है, किन्तु कवि के लिए वह कीट्स् का, अनाक्रियोन, हाफ़िज़, ओविड, लाफ़ोर्ज का गुलाब है।"

साहित्य-रचना अधर में नहीं होती। टी० एस० इलियट, गोर्की, पन्त, 'अज्ञेय' सभी के पीछे एक लम्बी साहित्यिक परम्परा है। उनका ज्ञान, विवेक, सभी मानसिक ढाँचा इतिहास और संस्कृति के स्पर्श से निखरा है, परिष्कृत हुआ है। आज की कला-कृतियों के पीछे युगों के प्रयास और साधना की परम्परा है।

मार्क्सवादी आलोचक कला को, विज्ञान को, मनुष्य को उसकी सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर देखता है। वह समझता है कि कला के रूप और प्राण-तत्व दोनों पर ही सामाजिक विकास का प्रभाव पड़ा है। कलाकार की प्रेरणा का स्रोत उसका 'अहम्' नहीं, वरन् उसके चतुर्दिक उमड़ता, हिलोर मारता सामाजिक जीवन है, जो स्वयं इतिहास के लम्बे तार का एक छोर है।

एक विद्वान मार्क्सवादी विचारक के अनुसार "मनुष्य दो उल्वनाल धारण करता है। एक से गर्भ में नौ मास उसका पोषण होता है। जन्म के बाद दूसरे नाल द्वारा उसका विकास होता है; इसके माध्यम से मनुष्य अपना

मानवीय उत्तराधिकार प्राप्त करता है। मनुष्य और पशु के बीच यह अन्तर है कि पशु का पालन एक माँ करती है, किन्तु मनुष्य की दो माँ हैं, एक शारीरिक और दूसरी 'सांस्कृतिक माँ' यानी समाज। वह सौंदर्य-शास्त्र जो कला के मानवीय आधार पर आघात करता है, मातृघात का दोषी है। सांस्कृतिक माँ पर आघात करना कला पर आघात करना है।"[1]

हिन्दी साहित्य की भी एक लम्बी परम्परा है और आधुनिक युग का साहित्य उस परम्परा की एक कड़ी है। बिना अपने पुराने इतिहास को समझे मनुष्य आगे नहीं बढ़ सकता; प्राचीन की समस्त प्रगतिशील परम्परा को सहेजकर वह आगे बढ़ता है; जो कुछ जड़ है, रूढ़ है, उसे अनावश्यक भार समझकर वह पीछे छोड़ देता है। विचार, सिद्धान्त और आदर्श जो एक युग में जीवनदायिनी शक्ति रखते थे, इतिहास की करवट में अपना प्राचीन रूप और बल खो देते हैं। सदा के लिए कोई भी विचार प्रगतिशील और जीवनदायी नहीं बने रह सकते। पूँजीवाद अपने अभ्युदय-काल में एक क्रान्तिकारी शक्ति था; उस युग का साहित्य भी क्रान्तिकारी साहित्य था। आज पूँजीवाद के सिद्धान्त और आदर्श अपनी जीवनदायिनी शक्ति खो चुके हैं और नए विचार और सिद्धान्त उनका स्थान ले रहे हैं। संस्कृति और कला की जीवित धारा बढ़ती नदी के समान है, ताल के बँधे पानी के समान नहीं। किन्तु गंगा का निरंतर परिवर्तित स्वरूप फिर भी गंगा का स्वरूप है; यह कहना अनुचित होगा कि आगे बढ़ती गंगा अपनी प्राचीन परम्परा खो चुकी है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य भी अपनी समस्त प्रगतिशील परम्परा को सहेज कर आगे बढ़ेगा। सभी कुछ प्राचीन आज भी जैसे-का-तैसा अनुकरण के योग्य है, यह मानना असम्भव है। उदाहरण के लिए सती, बाल-विवाह, अस्पृश्यता आदि प्रथाएँ भारतीय परम्परा का अनुकरणीय रूप नहीं कही जा सकतीं; न हिन्दी साहित्य में रीतिकाल की परम्परा। हमें भारतीय संस्कृति के इतिहास का एक उदार दृष्टिकोण से अध्ययन करना होगा। तुलसी, सूर

---

१. मालोची होवार्थ, माडर्न क्वार्टर्ली मिसलेनी प्रथम अङ्क।

अथवा कबीर की मानवतावादी परम्परा से हम प्रेरणा ग्रहण करते हैं, किन्तु उनके विचारों को भी आज बिना विवेचना के हम ज्यों-का-त्यों नहीं ग्रहण कर सकते।

आजकल पश्चिम में समाजवाद के प्रति यह आक्षेप किया जाता है कि वह यूरोप की सम्पूर्ण ईसाई परम्परा को नष्ट कर रहा है। वास्तविकता यह है कि इस परम्परा के सबसे बड़े शत्रु उसके साम्राज्यवादी समर्थक चर्चिल और धार्मिक पंडे, पोप आदि हैं, और ईसाई परम्परा के प्रगतिशील तत्वों का एकमात्र सच्चा उत्तराधिकारी समाजवाद ही हो सकता है। इसी प्रकार हमारे देश में भारतीय संस्कृति की जीवनदायिनी परम्परा के सच्चे रक्षक रूढ़िवादी विचारक नहीं हो सकते, उसके एकमात्र उत्तराधिकारी समाजवादी विचारक और लेखक ही हो सकते हैं। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य की परम्परा के वास्तविक समर्थक प्रगतिशील विचारक और लेखक ही हो सकते हैं, रूढ़िवादी विचारक और लेखक नहीं।

भारतीय परम्परा की रक्षा संस्कृत शब्दावली से बोझिल भाषा लिखकर, अथवा तथाकथित 'रहस्यवाद' और 'निराशावाद' अथवा 'नियतिवाद' को अपनाकर नहीं हो सकती। भारतीय परम्परा को विकास की चरम सीमा तक हम एक वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से ही पहुँचा सकते हैं। भारतीय संस्कृति आधुनिक विज्ञान और उसके अन्वेषणों का उपयोग करके नवीन उच्चतम धरातल पर पहुँचेगी; काल-चक्र को सम्पूर्णतया उल्टा घुमाकर नहीं।

यूरोपीय साहित्य-कला में 'प्रयोगवाद', 'प्रतीकवाद' आदि अनेक शैलियाँ और पद्धतियाँ भी चल पड़ी हैं। इनके समर्थक पूँजीवादी संस्कृति के ह्रासोन्मुख रूप से हताश होकर अपनी समस्त प्रतिभा प्रयोगशीलता में व्यय करते हैं। उनको कला के सामाजिक दायित्व पर भरोसा नहीं है। वे कला की समस्त प्राचीन परम्परा को नष्ट-भ्रष्ट करके आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उत्तरोत्तर वह साहित्य की व्याख्या 'स्वान्तः सुखाय' आदि शब्दों में करने लगते हैं, साहित्य को आत्मानुभूति का साधन मानते हैं, विचारों के

आदान-प्रदान का माध्यम नहीं। इस विचार-धारा का प्रतिनिधि जेम्स जॉयस अन्तमें एक स्वप्न-भाषा का प्रयोग करने लगा, जिसे शायद आइन्सटाइन के फ़ौर्मूलों की तरह संसार में आधे दर्जन से अधिक व्यक्ति नहीं समझ पाते।

साहित्य में प्रयोगों का महत्व है। किन्तु प्रयोग के लिए प्रयोग निरर्थक है। आधुनिक युग के अनेक कलाकार बेल-बूटों और पच्चीकारी में अपनी समस्त प्रतिभा व्यय करते हैं। प्रयोग का लक्ष्य कलाकार के अस्त्रों को चमकाना और तीखा करना है; अभिव्यक्ति के साधनों को निखारना है, तोड़ना नहीं। प्रयोगवादिता के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि वह कलाकार और उसकी जनता के बीच प्राचीर न बने, वरन् उसकी अभिव्यक्ति के मार्ग प्रशस्त करे।

'अज्ञेय' जी की 'जैसे तुझे स्वीकार हो' कविता का अर्थ करने के लिए किसी पत्र-सम्पादक ने पुरस्कार घोषित किया था। कविता का आरम्भ इस प्रकार है :—

"जैसे तुझे स्वीकार हो !
डोलती डाली, प्रकम्पित पात पाटल-स्तम्भ विलुलित
खिल गया है सुमन मृदु-दल, बिखरते किंजल्क प्रमुदित
स्नात मधु से अंग रंजित-राग केशर-अंजली से स्तब्ध
सौरभ है, निवेदित
मलय मारुत, अब जैसे तुझे स्वीकार हो" आदि

इस कविता का अर्थ किसी साधारण कोष की सहायता से आसानी से हो सकता था, किन्तु जब स्वयं 'अज्ञेय' जी ने इसका अर्थ पद्य में किया, तभी इसका अर्थ हुआ। परम्परा के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिस कलाकार की भाषा संस्कृत के निकट है, उतना ही वह भारतीय परम्परा के निकट है। किन्तु परम्परा की व्याख्या इतनी संकुचित नहीं हो सकती। अपनी भाषा के बावजूद 'गोदान' का लेखक भारतीय परम्परा के निकट है, और 'शेखर' का लेखक दूर।

प्रगतिशील कलाकार जनता तक अपनी बात ले जाना चाहता है।

इसके लिए वह अपनी प्राचीन परम्परा द्वारा विकसित जन-गीतों का प्रयोग करता है। परम्परा और प्रयोगशीलता का हामी होते हुए भी वह न 'परम्परावादी' हो सकता है, न 'प्रयोगवादी'। अपनी लम्बी साहित्यिक परम्परा से वह प्रयोगवादियों की तरह सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता; न वह अग्रगामी जीवन की संवेदना और आकुलता व्यक्त करने के लिए नए अस्त्रों के प्रयोग से विमुख हो सकता है।

साहित्य केवल जीवन की अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं, उसे बदलने का अस्त्र भी है। अतएव साहित्य के रूप-प्रकार लेखक और उसकी जनता के बीच एक माध्यम हैं, जिनको उत्तरोत्तर परिष्कृत और विकसित करना है। प्रगतिशील लेखक उस परम्परा की रक्षा करेंगे, जो शताब्दियों के यत्न से निखरी है। प्रगतिशील कला इतिहास की प्रौढ़तम कला होगी, क्योंकि पुरातन के उत्तराधिकार को वह नवीन, उच्चतम स्तरों पर पहुँचायगी। यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक कला नए जीवन की अभिव्यक्ति होने के कारण प्राचीन कला से भिन्न होगी। उसके विचार, आदर्श और सिद्धान्त भिन्न होंगे, यद्यपि प्राचीन परम्परा का ही वह विकसित और प्रौढ़ रूप होगी।

आलोचना का मार्क्सवादी आधार

मार्क्सवाद ने राजनीति, अर्थशास्त्र और दर्शन को ही एक नया पथ नहीं सुझाया, वरन् साहित्य को भी एक नवीन दृष्टि दी है। जो सत्य हमारे जीवन और साहित्य में निहित था, उसको मार्क्सवाद प्रकाश में लाया है।

मार्क्सवाद का विचार-दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। इस विचार-दर्शन के अनुसार जगत को, जीवन को, मनुष्य की अपार ज्ञान-राशि को एक विकासमान और गतिशील रूप में देखा जाता है। समाज का रूप उसके आर्थिक अवलम्बों के अनुसार निरन्तर बदला करता है। कोई नया आविष्कार होता है, उसके कारण समस्त आर्थिक व्यवस्था बदल जाती है, और इसका तत्काल प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर भी पड़ता है। नई मशीनें उत्पादन के साधनों में मूल परिवर्तन करती हैं, इसके फलस्वरूप सामन्ती युग का अन्त और पूँजीवादी युग का आरम्भ होता है। इस नवीन समाज-व्यवस्था में मनुष्य के विचार और अनुभूतियाँ भी नया स्वरूप ग्रहण करती हैं। नई परिस्थितियाँ नए विचारों और मानदण्डों को जन्म देती हैं। विचारों का अपना एक स्वतन्त्र जगत् है अवश्य, किन्तु वह जीवन से विलग कोई अन्ध-कोठरी नहीं है। विचारों के जगत् और सामाजिक जीवन में निरन्तर घात-प्रतिघात चला करता है। कालिदास का 'मेघदूत' अथवा 'शकुन्तला' आज कोई साहित्यकार नहीं लिख सकता, न बिहारी की सतसई अथवा मतिराम का 'रसराज'; किन्तु न प्राचीन कवि ही 'गीताञ्जलि' अथवा 'पल्लव' या 'गोदान' लिख सकते थे। इसका अर्थ यही है कि नए सामाजिक जीवन के अनुसार कवि के विचारों और अनुभूतियों का भी नया स्वरूप बनता है।

साहित्य, विज्ञान, दर्शन, कला आदि का एक परम्परागत रूप अवश्य है; यही रूप निरन्तर परिवर्तित और विकसित होता है। यह भी नहीं कहा

जा सकता कि इस परिवर्तन की गति सदैव ही अग्रगामी होती है। जब सामाजिक सम्बन्ध समाज की प्रगति पर बन्धन बन जाते हैं, तब दर्शन, साहित्य और कला सभी की प्रगति रुक जाती है। पूँजीवाद की इस चरम अवनति के युग में वैज्ञानिक हतबुद्धि होकर ज्ञान में अपना विश्वास खोने लगता है और रहस्यवादी बन जाता है। कला और साहित्य में भी निराशा और असहायता की भावना आती है, और अनेक नए वाद प्रकट होते हैं, जैसे भविष्यवाद, प्रतीकवाद, अति-आधुनिकता अथवा क्यूबिज़्म या सुर-रीयलिज़्म। इन नए वादों से प्रेरित कला में प्राण-भार बहुत हल्का पड़ जाता है, कलाकार रचना के रूप-प्रकार पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करता है, वह प्रयोग के लिए ही प्रयोग का समर्थक बन जाता है। निरन्तर ही उसकी कला दुरूह, एकाकिनी और हतप्रभा बनती जाती है, किन्तु इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में नवजीवन के अणु-परमाणु भी रहते हैं, जिन पर भविष्य की सब आशा-अभिलाषाएं केन्द्रित होती हैं। इस नव आशा से प्रेरित कला अतीत का समस्त उत्तराधिकार संजोकर उसे नवजीवन से भर देती है। नव-साहित्य का निर्माण एक लम्बा और कठिन प्रयास होता है; उसके विकास और वयःप्राप्ति में कुछ समय भी लगता है।

साहित्य और कला की इस लम्बी यात्रा में कोई वस्तु निश्चित समान रूप से रही है, जिसको हमारे पूर्वजों ने रस कहा था। उन्होंने रस की विस्तृत व्याख्या की और उसके स्वरूप पर निरन्तर प्रकाश डाला। उन्होंने कुछ मोटे-मोटे वर्गों में रस को विभाजित किया, और इन रूपों को सनातन और शाश्वत सत्य माना। भय, क्रोध, करुणा, स्नेह आदि का झंझा हमें आज भी झकझोर जाता है, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान ने हमें मनुष्य के अवचेतन और अर्द्धचेतन जगत् से और अनुभूतियों के सूक्ष्मतम कोमल भेदों से भी परिचित करा दिया है, और आज का साहित्य-पारखी उन प्राचीन रस-भेदों के बल पर अपनी कागज़ की नाव भावनाओं के गहरे सागर में अधिक दूर तक नहीं चला सकता। इस अन्तर्मन के नक्शे को भी शाश्वत मान लेना भारी भूल होगी, क्योंकि परिस्थिति के घात-प्रतिघात से मनोदशाओं और

मनोभावनाओं में विकार आते हैं, अथवा उनका परिष्कार होता है।

साहित्यकार जिस जीवन को अपने चतुर्दिक् हिलोर मारता देखता है, उसी से वह प्रेरणा पाता है। उसकी अनुभूतियाँ इसी जीवन से सम्बन्धित हैं। उसका मानसिक संसार इनसे विलग कोई बन्द मुक्ता-मंजूषा नहीं। अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी उसकी भावनाओं का संसार निरन्तर वाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिध्वनित और झंकृत होता है। इसी कारण हम किसी कलाकार की रचना परखते समय केवल उसकी वाह्य रूपरेखा पर ही अपना समस्त ध्यान केन्द्रित नहीं करते; हम उसके सम्पूर्ण रूप-प्राण की परीक्षा करते हैं। किन विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों का वह प्रचार करता है, कहाँ तक उसकी अभिव्यक्ति के साधन उनका साथ देते हैं, यह सभी प्रश्न आलोचक का सामना करते हैं।

इस प्रकार कला की परिभाषा को हम किन्हीं शब्दों के जाल में चिर-काल तक नहीं बाँध सकते। वह सामाजिक जीवन के सतत परिवर्तनशील रूप के प्रति एक सचेत प्राणी की विशेष प्रतिक्रिया है, जो शब्दों अथवा रंगों, रेखाओं, ताल, लय, स्वरों आदि में व्यक्त होती है। इस प्रतिक्रिया और अभिव्यक्ति का रूप उसकी प्रेरणा के आधारों के अनुरूप बदला करता है। कहा जाता है कि माता की ममता सन्तान के प्रति अथवा प्रकृति का चिर-सौन्दर्य जीवन के सनातन सत्य हैं और इन्हीं की प्रेरणा से अमर कला की सृष्टि हो सकती है, आजकल की घटनाओं के अवलम्ब से नहीं। क्या बंगाल के अकाल की विभीषिका में सन्तान की ममता गल कर नहीं बह गई? क्या इस दारुण परिस्थिति का निरूपण अमर कला को जन्म नहीं दे सकता? क्या प्रकृति का रूप भी समाज के विकास के साथ बदलता नहीं रहा? वह प्रकृति, जो कभी मानव की स्वामिनी थी, आज उसकी दासी है। कभी वह सुकुमार प्रणयिनी का रूप धारण करती है, तो कभी क्रान्ति की चण्डी का। श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य में भी यह भावना है कि विश्व के विध्वंस के लिए एक प्रबल झंझा चला आ रहा है; उनके दीपक की बाती मन्द-मन्द जल रही है; 'उँगलियों की ओट में' वे सब 'सुकुमार सपने'

जा सकता कि इस परिवर्तन की गति सदैव ही अग्रगामी होती है। जब सामाजिक सम्बन्ध समाज की प्रगति पर बन्धन बन जाते हैं, तब दर्शन, साहित्य और कला सभी की प्रगति रुक जाती है। पूँजीवाद की इस चरम अवनति के युग में वैज्ञानिक हतबुद्धि होकर ज्ञान में अपना विश्वास खोने लगता है और रहस्यवादी बन जाता है। कला और साहित्य में भी निराशा और असहायता की भावना आती है, और अनेक नए वाद प्रकट होते हैं, जैसे भविष्यवाद, प्रतीकवाद, अति-आधुनिकता अथवा क्यूबिज़्म या सुर-रीयलिज़्म। इन नए वादों से प्रेरित कला में प्राण-भार बहुत हल्का पड़ जाता है, कलाकार रचना के रूप-प्रकार पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करता है, वह प्रयोग के लिए ही प्रयोग का समर्थक बन जाता है। निरन्तर ही उसकी कला दुरूह, एकाकिनी और हतप्रभा बनती जाती है, किन्तु इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में नवजीवन के अणु-परमाणु भी रहते हैं, जिन पर भविष्य की सब आशा-अभिलाषाएं केन्द्रित होती हैं। इस नव आशा से प्रेरित कला अतीत का समस्त उत्तराधिकार संजोकर उसे नवजीवन से भर देती है। नव-साहित्य का निर्माण एक लम्बा और कठिन प्रयास होता है; उसके विकास और वयःप्राप्ति में कुछ समय भी लगता है।

साहित्य और कला की इस लम्बी यात्रा में कोई वस्तु निश्चित समान रूप से रही है, जिसको हमारे पूर्वजों ने रस कहा था। उन्होंने रस की विस्तृत व्याख्या की और उसके स्वरूप पर निरन्तर प्रकाश डाला। उन्होंने कुछ मोटे-मोटे वर्गों में रस को विभाजित किया, और इन रूपों को सनातन और शाश्वत सत्य माना। भय, क्रोध, करुणा, स्नेह आदि का झंझा हमें आज भी झकझोर जाता है, किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान ने हमें मनुष्य के अवचेतन और अर्द्धचेतन जगत् से और अनुभूतियों के सूक्ष्मतम कोमल भेदों से भी परिचित करा दिया है, और आज का साहित्य-पारखी उन प्राचीन रस-भेदों के बल पर अपनी कागज की नाव भावनाओं के गहरे सागर में अधिक दूर तक नहीं चला सकता। इस अन्तर्मन के नक़्शे को भी शाश्वत मान लेना भारी भूल होगी, क्योंकि परिस्थिति के घात-प्रतिघात से मनोदशाओं और

मनोभावनाओं में विकार आते हैं, अथवा उनका परिष्कार होता है।

साहित्यकार जिस जीवन को अपने चतुर्दिक् हिलोर मारता देखता है, उसी से वह प्रेरणा पाता है। उसकी अनुभूतियाँ इसी जीवन से सम्बन्धित हैं। उसका मानसिक संसार इनसे विलग कोई बन्द मुक्ता-मंजूषा नहीं। अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी उसकी भावनाओं का संसार निरन्तर वाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिध्वनित और झंकृत होता है। इसी कारण हम किसी कलाकार की रचना परखते समय केवल उसकी वाह्य रूपरेखा पर ही अपना समस्त ध्यान केन्द्रित नहीं करते; हम उसके सम्पूर्ण रूप-प्राण की परीक्षा करते हैं। किन विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों का वह प्रचार करता है, कहाँ तक उसकी अभिव्यक्ति के साधन उनका साथ देते हैं, यह सभी प्रश्न आलोचक का सामना करते हैं।

इस प्रकार कला की परिभाषा को हम किन्हीं शब्दों के जाल में चिर-काल तक नहीं बाँध सकते। वह सामाजिक जीवन के सतत परिवर्तनशील रूप के प्रति एक सचेत प्राणी की विशेष प्रतिक्रिया है, जो शब्दों अथवा रंगों, रेखाओं, ताल, लय, स्वरों आदि में व्यक्त होती है। इस प्रतिक्रिया और अभिव्यक्ति का रूप उसकी प्रेरणा के आधारों के अनुरूप बदला करता है। कहा जाता है कि माता की ममता सन्तान के प्रति अथवा प्रकृति का चिर-सौन्दर्य जीवन के सनातन सत्य हैं और इन्हीं की प्रेरणा से अमर कला की सृष्टि हो सकती है, आजकल की घटनाओं के अवलम्ब से नहीं। क्या बंगाल के अकाल की विभीषिका में सन्तान की ममता गल कर नहीं बह गई? क्या इस दारुण परिस्थिति का निरूपण अमर कला को जन्म नहीं दे सकता? क्या प्रकृति का रूप भी समाज के विकास के साथ बदलता नहीं रहा? वह प्रकृति, जो कभी मानव की स्वामिनी थी, आज उसकी दासी है। कभी वह सुकुमार प्रणयिनी का रूप धारण करती है, तो कभी क्रान्ति की चण्डी का। श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य में भी यह भावना है कि विश्व के विध्वंस के लिए एक प्रबल झंझा चला आ रहा है; उनके दीपक की बाती मन्द-मन्द जल रही है; 'उँगलियों की ओट में' वे सब 'सुकुमार सपने'

बचा लेना चाहती हैं।' 'पल्लव' के रजत और स्वर्ण के प्रभात और सन्ध्या 'ग्राम्या' में ताँबे और पीतल के बन जाते हैं।

इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचक कला के बाह्य रूप, उसकी शैली आदि पर ही कुछ टीका-टिप्पणी करके सन्तोष नहीं कर लेता। वह कला के रूप-रंग, गन्ध आदि से रस अवश्य लेता है, किन्तु वह उसके प्राणों को कुरेदकर उसकी सूक्ष्मतम कोमल अनुभूतियों, भावनाओं और उनमें निहित उसके जीवन-दर्शन की विवेचना भी करता है। वह व्यक्ति की भावनाओं को निरन्तर उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर देखता है, ताकि कलाकार जीवन को अपने अनुभव से कुछ सीखकर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। वह साहित्य को केवल जीवन का दर्पण ही नहीं मानता, किन्तु उसे बदलने का एक साधन भी। इसलिए वह कलाकार के विचार-दर्शन की निरन्तर व्याख्या करता है।

मार्क्सवादी विचार-दर्शन के अनुसार दो प्रकार की विचार-धाराएँ होती हैं—एक प्रगतिशील, दूसरी प्रतिगामी। वे समाज की दो विरोधी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। क्षय-ग्रस्त समाज-सम्बन्धों को स्वीकार करने वाली विचार-धारा प्रतिगामी होती है; जीवन की नव-शक्तियों की प्रतिनिधि विचारधारा प्रगतिशील होती है। कोई-न-कोई विचारधारा अवश्य ही कला और साहित्य में व्यक्त होती है। विचार से शून्य कला की कल्पना असम्भव है, यद्यपि आजकल के अनेक वाद कला के बाह्य रूप पर ही सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करते हैं, कोण और वृत्त द्वारा अपनी समस्त प्रेरणा व्यक्त करने का प्रयास करते हैं, और शून्यता के वातावरण में अपनी कला को बाँध रखना चाहते हैं। इस प्रयास में उनकी विफलता और पराजय दारुण हाहाकार करती हुई फूट निकलती है।

पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के शोषण और विसंगतियों से परास्त इन कलाकारों को मार्क्सवाद नव-जीवन की ज्योति दिखाता है। वह उनका ध्यान क्रान्ति की बढ़ती शक्तियों की ओर खींचता है और उनका सम्बन्ध इन शक्तियों से स्थापित करता है। इस प्रकार नव आशा और उल्लास कला में

अंकुरित होते हैं, और केवल रूप-प्रकारों के खेल और प्रयोगों में कलाकार की प्रतिभा सीमित और कुण्ठित होकर नहीं रह जाती।

प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों को, जो नए सामाजिक जीवन और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है, कुछ विचारक कलेजे से चिपकाए रहते हैं। इन माप और बटखरों से तौलने पर नया साहित्य उनके समीप सदा हल्का ही उतरता है। शुक्लजी को प्रेमचन्द और पन्त की रचनाएँ पसन्द न आई थीं। जो मानदण्ड तुलसी, सूर और जायसी का मूल्य सफलतापूर्वक आँक सके, वह प्रेमचन्द और पन्त की परीक्षा में स्वभावतः असफल रहे। जो परीक्षक छायावादी पन्त, 'निराला' और महादेवी का रहस्य समझ पाए, वे 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'कुकुरमुत्ता', 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' अथवा 'अतीत के चलचित्र' आदि की सही-सही परख करने में असफल रहे। इस साहित्य को इन्होंने प्रचार-साहित्य समझा और इसका मूल्य आँकने में वे असमर्थ रहे। प्रचार तो सभी कला में रहता है, क्योंकि जहाँ विचार है, वहीं प्रचार है। कलाकार को निश्चय यह करना है कि किन विचारों का प्रचार वह करेगा, टूटती समाज-सत्ता के विचारों का, ह्रासोन्मुख शासक-वर्ग के विचारों का, अथवा नव-निर्माण की ओर उन्मुख क्रान्तिकारी जन-समाज के विचारों का? यदि वह उच्च कोटि का प्रचारक है, तो "War and Peace", "Anna Karenina' अथवा 'गोरा' लिखेगा। यदि वह निम्न कोटि का प्रचारक है, तो आदर्शवादी विचार-दर्शन अपनाकर भी कुछ न कर सकेगा। वह 'गोदान', 'ग्राम्या', 'माँ', 'कैलवेरी की सड़क', 'पीकिंग का पल' भी लिख सकता है; यदि उसमें प्रतिभा नहीं है, तो उसका प्रचार केवल नारेबाजी होगा।

मार्क्सवादी साहित्यिक सचेत होकर जीवनदायिनी शक्तियों का साथ देता है। उसके पास वस्तुस्थिति को समझने का एक अचूक साधन है। उसका विचार-दर्शन वास्तविकता का अन्तरंग परिचय उसे देता है, जब कि विवेक में आस्था खोकर रहस्यवादी लेखक अँधेरे में खोजते से कुछ मालूम होते हैं, और स्वयं उन्हें अपनी कला अरण्य-रोदन मालूम होती है।

इस प्रकार मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्यालोचन वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अधिक सर्वांगीण होता है। वह कलाकार की रचना को उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में रखता है और उसके रूप की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करता है। समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र का अध्ययन उसे एक समन्वित दृष्टि देता है, जो पुराणपन्थी आलोचकों द्वारा अधिकतर उपेक्षित है। मार्क्सवादी दर्शन उसे सामाजिक और साहित्यिक गति का अन्तरंग परिचय देता है, जिसे पाकर वह एक उच्चतम लक्ष्य साहित्य और कला के सामने रखता है। मानव-संस्कृति के इन प्रौढ़ और परिष्कृत रूपों को वह केवल मनोरञ्जन का साधन नहीं समझता; वह इन्हें जीवन को अधिक सुन्दर और सफल बनाने का अस्त्र भी मानता है। वह समझता है कि कला का ध्येय केवल जीवन का निरूपण ही नहीं, वरन् उसे बदलना है।

प्रगतिशील आलोचना के मान

पिछले दिनों में हिन्दी के प्रमुख प्रगतिशील आलोचकों में जो बहस छिड़ी, उसके फलस्वरूप पाठकों में एक जिज्ञासा का भाव जाग्रत हुआ, और यह प्रश्न उठा कि प्रगतिशील आलोचना के सिद्धान्त क्या हैं। यह भी पूछा जाता है कि जब दो आलोचक किसी पुस्तक अथवा लेखक पर दो सम्मति प्रगट करते हैं, तब उनमें से कौन-सी सच मानी जाय!

प्रगतिशील आलोचकों में मतभेद तो उठा करते हैं, किन्तु वे साहित्यालोचन को एक विज्ञान मानते हैं, जिसके सिद्धान्त उत्तरोत्तर स्पष्ट होते जाते हैं। इस स्पष्टीकरण के क्रम में मतभेद उठते हैं, किन्तु उनका प्रतीकार विचारक की वैज्ञानिक बुद्धि और दृष्टि ही हो सकती है। सोवियत के आलोचकों में शेक्सपियर आदि के सम्बन्ध में भारी मतभेद प्रगट हुए थे, किन्तु ठोस वैज्ञानिक परीक्षा करने के बाद उनका निराकरण हुआ। इसी प्रकार कॉडवेल के मूल्यांकन के सम्बन्ध में ब्रिटिश प्रगतिशील आलोचकों में मतभेद प्रगट हुए हैं।

प्रगतिशील आलोचक को यह तो स्वीकार करना ही होगा कि प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्त स्वयं उसकी अन्तर्प्रेरणा से नहीं उद्भूत होते, वरन् सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम में ही वे निहित हैं। अतएव प्रगतिशील आलोचक अपनी अन्तर्दृष्टि की दुहाई नहीं देता। वह मानता है कि आलोचना के सिद्धान्तों और निष्कर्षों की बाहरी परीक्षा हो सकती है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह साहित्य की सृजनात्मक शक्ति को असाधारण नहीं मानता, किन्तु वह यह अवश्य समझता है कि जिस प्रकार प्रकृति के रहस्य का निरन्तर और उत्तरोत्तर उद्घाटन हुआ है, उसी प्रकार

समाज और साहित्य के रहस्य भी वैज्ञानिक दृष्टि के सामने निरन्तर खुलते जा रहे हैं।

व्यक्ति-विशेष प्रतिभा से सम्पन्न होता है, क्योंकि प्रकृति समता नहीं स्वीकार करती; समता के लिये मनुष्य को संघर्ष करना पड़ता है। इस पैतृक और एक हद तक व्यक्तिगत पूँजी का सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार परिष्कार होता है; अनेक कबीर और रैदास परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण मूक रह जाते हैं, और अनेक लक्ष्मी-पुत्र सब सुविधाएँ पाकर भी मुखर नहीं होते। किन्तु जब भी इस प्रतिभा की ज्वाला उभरती है, इसे पहचानने के लिए किसी असाधारण बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती।

प्रगतिशील आलोचना के कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जिन्हें सभी प्रगतिशील साहित्यिक स्वीकार करते हैं। पहला तो यह कि इन सिद्धान्तों की वाह्य परीक्षा संभव है, और उनका वैज्ञानिक विश्लेषण होना चाहिए। इस सौन्दर्य विज्ञान की स्थापनाएँ निरन्तर स्पष्ट होती जा रही हैं।

प्रगतिशील आलोचक साहित्य को प्रवाह .के रूप में देखता है। समाज और संस्कृति की गति के अनुरूप साहित्य का रूप भी बदला करता है। पंतजी का आध्यात्मवाद और श्री भगवतीचरण वर्मा का श्रमजीवी संगठन पर कोप शाश्वत सत्य न होकर आज के शासक वर्ग की संस्कृति के संकट की सूचना है। पिछले काल में यह दोनों कलाकार सर्वहारा से सहानुभूति प्रकट करते थे, किन्तु संघर्ष की तीव्रता ने एक को अलग हटने के लिए और दूसरे को प्रत्याक्रमण के लिए मजबूर किया। साहित्य में इस प्रकार की विचार-धाराएँ संकट काल में प्रगट होती हैं, क्योंकि आज के समाज में लेखक वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र नहीं है, और किसी-न-किसी रूप में शासन व्यवस्था पर अथवा उसकी राजनीतिक सरकार पर जीविका के लिए अवलम्बित है, जीविका के हेतु उसे सिनेमा, रेडियो अथवा पत्र-मालिकों की शरण लेनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में 'माडर्न क्वार्टरली' के सम्पादक जॉन लुई का मत बहुत कुछ सार रखता है—"आलोचक को यह भी दिखाना चाहिए कि जब समाज की नींव हिलने लगती है और वह तुरन्त टूटने के खतरे में होती

है, किस प्रकार ईमानदारी भी पराजित होती है। तब औसत पूँजीवादी लेखक अपने युग की समस्या का सामना करने का साहस नहीं रखता और उस बौद्धिक मुक्ति के लिए प्रयास करने में हिचकता है, जो कि युग की माँग है और जो पूँजीवादी प्रगति के काल मे प्रतिक्रिया के विरोधी लेखकों ने किया था। इसके विपरीत वह कैथलिक (पोपपंथी) बन जाता है, योग की शरण लेता है, बुद्धि और विज्ञान के प्रति उपेक्षा दिखाता है, या अपने पाठकों को शान्तिवाद और तटस्थता का पाठ सिखाता है। ड्रेजर ने अपने क्रान्ति से पूर्व काल के लिए कहा था, जो अब बहुत से लेखक क्रान्ति से पीछे हटने के बाद कहते हैं : 'मैं जो कुछ देखता हूँ, उसमें कुछ सार नहीं पाता—मैं जीवन में निराशा और भयंकरता ही पाता हूँ।' "

यह तो आज की बात है, किन्तु विभिन्न युगों और देशों के साहित्य की तुलना करके हम आसानी से देख सकते हैं कि किस प्रकार उनके रूप और प्राण में विभिन्नता है। किसी भी युग के साहित्य को हम उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर ही समझ सकते हैं। आधुनिक साहित्य व्याव-सायिकता का किस प्रकार शिकार हुआ है, यह हम स्पष्ट देख रहे हैं ; गांधी जी पर वही कवि सबसे अधिक कलम घिस रहे हैं, जिन्होंने कल तक गोडसे की मनोवृत्ति का साहित्य में प्रचार किया था। और यही लोग सबसे अधिक शाश्वतवादी भी बनते हैं।

प्रगतिशील आलोचकों का आग्रह है कि साहित्य प्रगति का परिचायक हो। वे साहित्य को केवल सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं मानते, वरन् उसे बदलने का अस्त्र भी। समाज का एक चित्र शाश्वतवादी लेखक पेश करता है, दूसरा प्रगतिवादी। पहले चित्र में प्राचीन का मोह और समर्थन निहित है, टूटती समाज-व्यवस्था के प्रति अनुराग रहता है ; दूसरे में आगे बढ़ने की आतुरता, नए समाज-निर्माण की आकांक्षा रहती है। सामा-जिक जीवन के प्रति लेखक तटस्थ तथा उदासीन नहीं रहता, वह इस संघर्ष में एक-न-एक पक्ष अवश्य लेता है। उदाहरण के लिए, जब अध्यात्मवादी पन्त जी 'अभिशापित' और 'त्रासित' वर्ग को 'प्रभु के द्वार'—यानी श्री

अरविन्द के द्वार—पर आने का आदेश देते हैं, तो स्पष्ट ही वह संघर्षरत सर्वहारा को संघर्ष से हटने का निमन्त्रण देते हैं।

इस प्रकार इस तीव्रतम होते संघर्ष मे तटस्थ रहना संभव नहीं होता। या तो लेखक जनवादी परम्पराओं का पोषक होगा, या अभिजात वर्ग की संस्कृति और मान्यताओं का। वास्तव में साहित्य राजनीति से बच नहीं सकता, विशेषकर इस विज्ञान के युग में। जो साहित्य अभिजात वर्ग की राजनीति और मान्यताओं का समर्थन करता है, उसे प्रतिगामी आलोचक सनातन सत्य कहते हैं; जो साहित्य जनता के हितों का समर्थन करता है, उसे वे राजनीति, प्रचार आदि कहते हैं।

यह भी स्पष्ट है कि कल तक जो समाज-व्यवस्था प्रगतिशील थी, वह आज प्रतिगामी हो सकती है। पूँजीवाद अपने शिशुकाल और यौवन में प्रगतिशील था, किन्तु बूढ़ा होकर वह समुद्र के मनुष्य के समान समाज के गले का फन्दा बन गया है। जिन कवियों ने नए युग के अभ्युत्थान का स्वागत् किया, वे एक प्रगतिशील विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। हम उनको प्रगतिशील कहते हैं, किन्तु उनके विचारों को आज ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार कर सकते।

जहाँ प्रगतिवादी आलोचना में वास्तविक मतभेद प्रगट हुआ है, वह विषय-वस्तु के सम्बन्ध मे नहीं, वरन् कला के सम्बन्ध में है। सभी प्रगतिवादी आलोचक एकमत हैं कि साहित्य का तत्व सजीव और विकासोन्मुख होना चाहिए। क्या सजीव और विकासोन्मुख है, इसकी वैज्ञानिक कसौटियाँ हैं, और उन पर साहित्य कसा जा सकता है। उदाहरण के लिए, आज हमारे देश की भयानक आर्थिक कठिनाइयों का हल शासन-व्यवस्था के पास नहीं है; इनका निराकरण नया जनवादी भारत ही कर सकता है। अस्तु, इस समाज-व्यवस्था का समर्थक कोई लेखक वैज्ञानिक दृष्टि से प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता। आज वही लेखक प्रगतिशील है, जो इस जर्जर समाज-व्यवस्था पर निर्मम प्रहार करता है, जैसा अगणित लेखक कर रहे हैं।

प्रगतिशील आलोचना का दूसरा पक्ष कलात्मक है। कहा जा सकता है

कि कुछ आलोचक अपेक्षाकृत कला को कम महत्व देते हैं, कुछ अधिक। किन्तु कला साहित्य का एक अन्तरंग अंश है और इसके महत्व को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। वास्तव में बिना प्राण-बल के कला का बाहरी रूप भी सम्पन्न नहीं हो सकता। 'ग्राम्या' की भाषा में एक शक्ति थी, उसकी उपमाओं में एक बल था, जो 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में लोप हो रहा है। यदि कलाकार का जीवन-दर्शन दुर्बल है, तो उसकी कला में भी दुर्बलता होगी। यह भी हमें स्वीकार करना चाहिए कि प्रगतिशील विचार ही किसी रचना को साहित्य की कोटि में नहीं ला सकते। साहित्य-सृजन के लिए अनन्य प्रतिभा के अतिरिक्त एक संघर्ष भी करना पड़ता है, जो कला पर हमारे अधिकार को उत्तरोत्तर पुष्ट करता है। जिस प्रकार समाजवादी व्यवस्था पूँजीवाद के सम्पूर्ण कलात्मक विकास को लेकर आगे बढ़ती है, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य भी पुरातन के समस्त कलात्मक उत्तराधिकार को लेकर आगे बढ़ेगा। यह भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि मध्य वर्ग के लेखकों के दृष्टिकोण से ही इस प्रश्न पर पूर्ण विचार नहीं हो सकता। प्रगतिशील कला के लिए अनेक जन-कलाकार भी संघर्ष कर रहे हैं, जिनकी कलात्मक पूँजी जन-गीत आदि कला के रूप हैं। इन कलाकारों का आधिपत्य कला-रूपों पर निरन्तर सुदृढ़ होगा और उन्हीं की पंक्तियों में से कल के महान् समाजवादी कलाकार भी निकलेंगे। अतएव कला का प्रश्न यद्यपि महत्वपूर्ण है, उसे हम कला के लिए संघर्ष करती हुई जनता के लिए हौवा बनाकर भी खड़ा नहीं कर सकते।

साहित्य उच्च कोटि का प्रचार है, क्योंकि अन्ततः साहित्य का ध्येय विचारों का आदान-प्रदान है। यह भी ठीक है कि सभी प्रचार साहित्य की कोटि में नहीं आता। किसी रचना में क्या गुण होने चाहिएँ, ताकि वह साहित्य की उपाधि से विभूषित हो सके? इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद हो सकता है, किन्तु इसका निर्णय ऐसी कसौटियों से हो सकता है जो बाहरी दुनिया से भी सम्बन्ध रखती हैं।

प्रसिद्ध राष्ट्र-कवि मैथिली शरण गुप्त की निम्नलिखित पंक्तियों के बारे में

एक सुपरिचित प्रगतिशील मासिक में दो सम्मतियाँ प्रगट हुई हैं :

'अरे हाय! कैसे हम झेलें, अपनी लज्जा, उसका शोक!
गया हमारे ही हाथों से अपना राष्ट्रपिता परलोक!!'

पहली सम्मति थी कि इन पंक्तियों की अनुभूति सच्ची है, दूसरी यह कि 'शोक की सच्ची अनुभूति' इन पंक्तियों में नहीं है। हमारा स्वयं भी यह मत है कि इस छन्द-बद्ध वाक्य को काव्य कहना उचित नहीं। साहित्य के बारे में इस प्रकार के मतभेद निरन्तर प्रगट होते हैं, जिनका कारण रुचि-वैचित्र्य है। किन्तु अधिकाधिक पाठकों और आलोचकों की सम्मति से हम निरन्तर ही किसी एक मत पर पहुँचा करते हैं। कभी-कभी इस मत-निर्माण में बहुत अधिक समय भी लग जाता है। जब तक अनुभूति को नापने का यन्त्र अमरीका में ईजाद नहीं होता, तब तक आलोचकों और विज्ञ पाठकों की प्रतिक्रिया ही इस बाह्य परीक्षा का साधन हो सकती है। हमारा अनुमान है कि अधिकतर आलोचक ईमानदारी से अन्त में एक ही नतीजे पर पहुँचते हैं।

कब कोई रचना साहित्य की परिधि में आ जाती है? जब उसमें गहरी अनुभूति हो, मार्मिकता हो, अभिव्यक्ति का सौन्दर्य हो, उच्च भावना हो और जिसके विचार-तत्व में समाज को आगे ले जाने की क्षमता हो। ऐसी रचनाओं को भी कभी-कभी साहित्य कहा गया है, जिनका सन्देश जीवन न होकर मरण था। गान्धी जी की हत्या के पूर्व ऐसी रचनाओं की हिन्दी में बाढ़ आ गई थी। इन रचनाओं में हमें कोई कलात्मक शृंगार नहीं मिला; भावना और विचार तो इनके हीन कोटि के थे ही। इस काल की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ थीं, नागार्जुन और केदार की कविताएँ, ख्वाजा अहमद अब्बास की 'अजन्ता,' 'मैं कौन हूँ,' 'सरदार जी,' कृष्णचन्द्र की 'पेशावर एक्सप्रेस' 'नेहरू और सादे आदम के नाम एक खत'; 'सुमन' की 'युग-सारथि गान्धी'। इन सभी रचनाओं की भावनाएँ और विचार-धारा उदात्त हैं, समाज को जीवन और आगे बढ़ने की शक्ति प्रदान करती हैं। इन रचनाओं में कला को लेखक के जीवन-दर्शन से बल मिला है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला और विषय-वस्तु का एक अन्तरंग

सम्बन्ध है, इनको जुदा करके देखना सम्भव नहीं। आज के प्रयोगवादी कवि पलायनवादी बनकर निर्जीव कला को जन्म देते हैं, किन्तु गहरी अनुभूति से प्रेरित होकर सत्साहित्य की सृष्टि करते हैं।

जो आलोचक यह समझते हैं कि कला का विषय-वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं, वे एक आधारभूत ग़लती करते हैं; इसी प्रकार वे आलोचक जो केवल विषय की प्रगतिशीलता से ही सन्तोष कर लेते हैं और रचना-विशेष में साहित्य के गुण नहीं खोजते, यानी अनुभूति, मर्म-स्पर्शी अभिव्यञ्जना आदि, वे साहित्य और पत्रकारिता के भेद को भुला देते हैं। हम प्रगतिशील पत्रकारिता भी चाहते हैं, और प्रगतिशील साहित्य भी। पत्रकारिता का प्रभाव क्षण-भंगुर होता है, साहित्य का अधिक गहरा और व्यापक। यदि केवल हमारे मस्तिष्क ने ही कोई विचार ग्रहण नहीं किया है, वरन् हमारी अनुभूति भी उसी में रँग गयी है जो कि वह निश्चय ही अधिकाधिक होगी—तो उत्तरोत्तर प्रगतिशील पत्रकारिता साहित्य में परिणत होगी।

भाषा पर अधिकार, छन्द बनाने की क्रिया में सफ़ाई, कहानी गढ़ने का गुण 'आदि' लेखक रख सकता है; किन्तु मात्र इस पूँजी से वह उच्च कोटि का कलाकार नहीं बन सकता। उसे कुछ और भी चाहिए—विचारों और भावनाओं की सचाई। गान्धी जी की मृत्यु पर लिखे अधिकांश काव्य की यही असफलता है; उन्हें ऐसे कवियों ने लिखा है, जो गान्धी जी के साम्प्रदायिक-दंगों सम्बन्धी विचारों को हृदय से स्वीकार न करते थे। गान्धी जी को सर्वोच्च श्रद्धाञ्जलि 'सुमन' पहले ही दे चुके थे, और मृत्यु के बाद 'नागार्जुन' ने शक्ति-सम्पन्न कविताएँ उन पर लिखीं। यह रचनाएँ गान्धी जी की साम्प्रदायिकता-सम्बन्धी विचार-धारा को जनता तक ले जाती थीं, अतएव बिहार सरकार को उन पर रोक लगानी पड़ी। शासक-वर्ग वास्तव में फूट का अन्त नहीं चाहता और उसकी बौखलाहट ही इस काव्य की शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण है। जब आलोचक-गण 'नागार्जुन' की साहित्यिकता की नाप-जोख कर रहे थे, जनता ने और सरकार ने अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न का फ़ैसला कर दिया।

प्रगतिशील आलोचना के मान साहित्य की गति के अनुसार बना करते हैं। उनका कोई अन्तिम रूप हम नहीं निर्धारित कर सकते। साहित्य और जीवन के विकास-क्रम के साथ वे भी बँधे हैं।

आचार्य शुक्ल की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना के गौरव थे; उच्च कोटि के इतिहासज्ञ, निबन्धकार, सम्पादक और कवि थे। आलोचना के क्षेत्र में आप पथ-दर्शक थे। पूर्ववर्ती लेखकों से आप मीलों आगे थे। आपने हिन्दी में एक गम्भीर शास्त्रीय आलोचना-शैली गढ़ी और उसकी नींव अपने ठोस अध्ययन और मनन पर रक्खी। आपके ज्ञान का प्रसार, आपके बुद्धिवाद की निर्ममता, आपका आत्मविश्वास और बौद्धिक संयम हिन्दी साहित्य पर इस प्रकार छा गये और आपका आतंक हिन्दी के साहित्यिकों पर ऐसा जमा कि अभी तक वे उसके प्रभाव से निकल नहीं पाये। शुक्लजी के समान आलोचक हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं हुआ; किन्तु आपकी तटस्थता का अनुकरण करके ही हिन्दी आलोचना विकसित होगी, प्रशस्तियाँ गाकर नहीं।

शुक्लजी ने हिन्दी शब्दसागर का सम्पादन किया। यह एक भारी काम था। इसके लिए आपको जंगल काटकर रास्ता बनाना पड़ा। खाण्डव वन जलाकर नये नगर बसाने के समान यह कार्य था। शब्दसागर की भूमिका के रूप में ही शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का प्रामाणिक इतिहास लिखा। यह भी हिन्दी के लिए एक अभूतपूर्व देन थी। शुक्लजी से पहले हिन्दी के तीन इतिहास लिखे गये—'शिवसिंह-सरोज,' डॉक्टर ग्रियर्सन का 'Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan' और 'मिश्रबन्धु-विनोद'। इनका रचना-काल क्रमशः सन् १८८३, १८८६ और १९१३ था। इन इतिहासों में अधिकतर कवियों के नाम, तिथियाँ और मोटी-मोटी बातें ही संकलित की गयी थीं। इनमें इतिहास के गुण नहीं के समान थे, न सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन, न साहित्यिक प्रवृत्तियों का। पूरे इतिहास को 'आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर' आदि खण्डों में बाँटा गया था। शुक्लजी

ने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन इस प्रकार किया—१. वीर-गाथा काल; २. भक्ति काल; ३. रीति काल; ४. आधुनिक काल। यह काल-विभाजन साहित्यिक धाराओं के अनुसार है, और सर्व-मान्य हो चुका है। अपने इतिहास में शुक्लजी ने लेखकों और रचनाओं की साहित्यिक परीक्षा भी की। आपका इतिहास इस प्रकार वर्णनात्मक न होकर विवेचनात्मक था।

शुक्लजी ने तुलसी, सूर, जायसी और चिन्तामणि के अधिकारपूर्ण, विस्तृत और गम्भीर अध्ययन लिखे। इनके अतिरिक्त आपके अनेक निबन्ध, भाषण आदि भी हैं, जिनमें आपने साहित्य के स्वरूपों पर विचार किया है। शुक्लजी ने विस्तारपूर्वक साहित्य-समीक्षा पर अलग से नहीं लिखा। आपके इतिहास और तुलसी, सूर आदि के अध्ययन से ही हम आपके विचार-दर्शन का परिचय पाते हैं।

शुक्लजी की आलोचना-पद्धति विशेष रूप से प्राचीन रस-शास्त्र से प्रभावित हुई है। आपने संस्कृत के लक्षण, अलंकार आदि के ग्रंथों का गहरा अध्ययन किया था और प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से आप साहित्य-परीक्षा करते थे। शुक्लजी का पाण्डित्य प्रकाण्ड था। आप कठिन परिश्रम और अन्वीक्षण के उपरान्त ही किसी विषय पर लेखनी उठाते थे। आपकी दृष्टि पैनी और मार्मिक थी। आप रसज्ञ, स्पष्टवादी और विनोदशील थे। किन्तु आपकी अनुभूति की सीमाएँ भी थीं। आप काफ़ी हद तक प्यूरीटन थे। वैष्णव पंथी और दार्शनिक कविता आपको विशेष प्रिय थी। भक्ति-काल की सीमाओं में आपका साहित्य-प्रेम बड़ी हद तक बँधा था। रीति काल और आधुनिक काल के विश्लेषण में शुक्लजी का दृष्टिकोण काफ़ी संकुचित है। आपके इतिहास का सबसे कमज़ोर भाग आधुनिक काल की विवेचना है।

शुक्लजी ने पाश्चात्य आलोचना-पद्धति का भी अनुशीलन किया था। आपके आलोचना-मानस को पूर्णतया मध्यकालीन अथवा सामन्ती नहीं कहा जा सकता। आप प्राचीन शास्त्रीय पद्धति से नवीन का समन्वय करना चाहते थे; किन्तु इसमें आप असफल रहे। इसी कारण हिन्दी के आधुनिक साहित्यकारों के साथ न्याय करने में आप असमर्थ रहे। आप नये साहित्य को

पुराने माप-दण्डो से नाप-जोख रहे थे और वह आपको सन्तोष प्रदान करता ही न था।

प्रेमचन्द पर शुक्लजी को कुछ अधिक नहीं कहना। उनकी महत्ता स्वीकार करके आप एक लम्बा वक्तव्य राजनीतिक वस्तु-स्थिति पर देते हैं :

"सामाजिक उपन्यासो मे देश मे चलनेवाले राष्ट्रीय तथा आर्थिक आन्दोलनो का भी आभास बहुत-कुछ रहता है। ताल्लुकेदारो के अत्याचार, भूखे किसानो की दारुण दशा के बड़े चटकीले चित्र उनमे प्रायः पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा केवल यही कहना है कि हमारे निपुण उपन्यास-कारो को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। उन्हे यह भी देखना चाहिए कि अंग्रेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर निर्वाह करनेवालो (किसानो और जमींदारो, दोनो) की और नगर के रोजगारियों या महाजनो की परस्पर क्या स्थिति हुई। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राज-कर्मचारियो का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियो के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियो का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गयी है। व्यापार-श्रेणियों को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फलता-फूलता रखने के लिए दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आयी और भूमि से सम्बन्ध रखनेवाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर—गिरती गयी।" [इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-संख्या २६४-६५]

लेखक का आग्रह है कि जमींदार भी शोषित वर्ग हैं, और उनकी दारुण अवस्था पर उपन्यासकार आँसू बहाता! इस कोटि के साहित्य-मर्मज्ञ से ऐसे रूढ़ि-बद्ध विचार पाकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।

प्राचीन उदाहरण देकर शुक्लजी साहित्यिक परम्पराओ का विश्लेषण और वर्गीकरण करते है। प्रेम-गाथाओ की चार पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं—१. विवाह के बाद प्रेम का परिपाक; २. विवाह के पूर्व प्रेम का आवि-

भाव; ३. रनिवास की प्रेम-क्रीड़ाएँ; ४. गुण-श्रवण; ५चित्र-दर्शन अथवा स्वप्न-दर्शन से उत्पन्न प्रेम।

जायसी के काव्य की आलोचना शुक्लजी इस प्रकार करते हैं:—

"लौकिक प्रेम-पथ के त्याग, कष्ट-सहिष्णुता तथा विघ्न-बाधाओं का चित्रण करके कवि ने भगवत्प्रेम की उस साधना का स्वरूप दिखाया है, जो मनुष्य की वृत्तियों को विश्व का पालन और रंजन करनेवाली उस परम वृत्ति में लीन कर सकती है।

"प्रेम या रति भाव के अतिरिक्त स्वामिभक्ति, वीर, दर्प, पातिव्रत्य तथा छोटे-छोटे भावों की व्यंजना अत्यन्त स्वाभाविक और हृदयग्राही रूप में जायसी ने करायी है, जिससे उनके हृदय की उदात्त वृत्ति और कोमलता का परिचय मिलता है।

"पद्मावत की अन्योक्तियों और समासोक्तियों में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का जैसा सुन्दर समन्वय देखा जाता है, अप्रस्तुत की व्यंजना के लिए जो प्रस्तुत वस्तुएं काम में लायी गयी हैं, और प्रस्तुत की व्यंजना के लिए जो वस्तुएँ सामने रखी गयी हैं, वे आवश्यकतानुसार कहीं बोध-वृत्ति में सहायक होती हैं और कहीं भावों के उद्दीपन में।"

हो सकती। पन्तजी के काव्य पर इस पद्धति का आरोप इस प्रकार होता है—

"पन्तजी की पहली प्रौढ़ रचना 'पल्लव' है, जिसमें प्रतिभा के उत्साह या साहस का तथा पुरानी काव्य-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है। इसमें चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत विधान इत्यादि की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में भरी-सी पायी जाती हैं। 'वीणा' और 'पल्लव' दोनों में अँगरेजी कविताओं के लिए हुए भाव और अँगरेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत-से मिलते हैं। कहीं-कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं, केवल चमत्कार और वक्रता के लिए रखे प्रतीत होते हैं, जैसे 'नयनों के बाल' आँसू। 'बाल' शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पायी जाती है, जैसे 'मधुबाल' 'मधुपों के बाल'। शब्दों का मनमाने लिंगों में प्रयोग भी प्रायः मिलता है। कहीं-कहीं वैचित्र्य के लिए एक ही प्रयोग में दो-दो लक्षणाएँ गुंफित पायी जाती हैं—अर्थात् एक लक्ष्यार्थ से फिर दूसरे लक्ष्यार्थ पर जाना पड़ता है, जैसे—'मर्म पीड़ा के हास' में।......" [इतिहास, पृष्ठ-संख्या ६०७]

इस प्रकार शुक्लजी ने अपने सम्पूर्ण पाण्डित्य की शक्ति से हिन्दी के इस शिशु-आन्दोलन को कुचलने की कोशिश की। किन्तु जब समय के प्रवाह ने छायावादियों को इतिहास में प्रतिष्ठित कर दिया, तभी शुक्लजी ने उदारता और सहानुभूति से उस काव्य का अध्ययन करने की चेष्टा की। जब हम शुक्लजी के प्रकाण्ड पाण्डित्य, अनवरत अध्यवसाय, अनुशीलन और सूक्ष्म बुद्धि का स्मरण करते हैं, तो उनके दृष्टिकोण की संकीर्णता और यदा-कदा कठमुल्लेपन को भी न भूल जाना चाहिए।

शुक्लजी की आलोचना-पद्धति वास्तव में एक शिक्षक की पद्धति है, जो ठेठ अवधी और व्रजभाषा के शब्दों का चयन करता है; पाठ का संशोधन करता है; लक्षणा, व्यञ्जना आदि की छान-बीन करता है; और उच्च कोटि का सम्पादक है। वह ऊँचे पाये का समीक्षक और काव्य-मर्मज्ञ तो है ही; किन्तु सर्वप्रथम वह आचार्य और शिक्षक है। इस आचार्य का भाषा-विज्ञान पर

पूर्ण अधिकार है, और शब्दों के भिन्न रूप-परिवर्तनो से उसे विशेष दिलचस्पी है। जायसी की भाषा की जो विवेचना और पाठ का संशोधन शुक्लजी ने किया, वह हिन्दी मे अभूतपूर्व है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे चन्द की भाषा पर जो विवेचना शुक्लजी ने की है, वह उनके अध्यवसाय और अगाध पाण्डित्य की साक्षी है। आधुनिक काल मे हिन्दी गद्य के विकास पर जो विहंगम दृष्टि शुक्लजी ने डाली है, वह इन्हीं उपर्युक्त गुणों का समर्थन करती है।

शुक्लजी कला मे लोक-कल्याण की भावना प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। आप 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी थे। अपनी लोक-भावना को शुक्लजी आध्यात्मिक रूप देते थे। तुलसी, जायसी और सूर के प्रशंसक आप इस दृष्टि से भी थे। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में आप अपना मत इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

"···हमारे यहाँ के सम्पूर्ण काव्यक्षेत्र की अंतःप्रकृति की छानबीन कर जाइए, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षो पर और जगत के नाना रूपों के साथ मनुष्य हृदय का गूढ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्रियो का मत लीजिए, तो जैसे सम्पूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है, वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी। 'अर्थ' का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्य-प्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ 'लोक की सुख-समृद्धि' लेना चाहिए। जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्य जीवन और अन्तर्जीवन की जितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में उसका विचार अवश्य होता आया है और होगा। हमारे यहाँ के लक्षण ग्रन्थों में रसानुभव को तो 'लोकोत्तर' और 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' आदि कहा है, पर अर्थवाद के रूप में, सिद्धान्त रूप में नहीं। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है।"

[इतिहास, पृष्ठ ४८५]

वास्तव में शुक्लजी की लोक-भावना लोकोत्तर कल्याण की भावना है और परलोकमुखी है। पन्तजी के समाजवादी दृष्टिकोण का बहुत रुकते-अटकते हुए शुक्लजी ने स्वागत किया है। अन्ततः आप अपनी आलोचना में विचार-वादी और आदर्शवादी हैं।

शुक्लजी के अनुसार "उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है।"

[इतिहास, पृष्ठ ४५६]

उपर्युक्त गुण शुक्लजी की आलोचना में प्रचुरता से हैं। यद्यपि आपकी शैली को पूर्णतः 'आधुनिक' नहीं कहा जा सकता, आप मध्यकालीन केंचुल छोड़ने का प्रयत्न अवश्य कर रहे थे। आपकी आलोचना युग-सन्धि की आलोचना है।

पूर्ण अधिकार है, और शब्दों के भिन्न रूप-परिवर्तनों से उसे विशेष दिल-चस्पी है। जायसी की भाषा की जो विवेचना और पाठ का संशोधन शुक्लजी ने किया, वह हिन्दी में अभूतपूर्व है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में चन्द की भाषा पर जो विवेचना शुक्लजी ने की है, वह उनके अध्यवसाय और अगाध पाण्डित्य की साक्षी है। आधुनिक काल में हिन्दी गद्य के विकास पर जो विहंगम दृष्टि शुक्लजी ने डाली है, वह इन्हीं उपर्युक्त गुणों का समर्थन करती है।

शुक्लजी कला में लोक-कल्याण की भावना प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। आप 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के विरोधी थे। अपनी लोक-भावना को शुक्लजी आध्यात्मिक रूप देते थे। तुलसी, जायसी और सूर के प्रशंसक आप इस दृष्टि से भी थे। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में आप अपना मत इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:—

"...हमारे यहाँ के सम्पूर्ण काव्यक्षेत्र की अंतःप्रकृति की छानबीन कर जाइए, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षों पर और जगत के नाना रूपों के साथ मनुष्य-हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्रियों का मत लीजिए, तो जैसे सम्पूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है, वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी। 'अर्थ' का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्य-प्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ 'लोक की सुख-समृद्धि' लेना चाहिए। जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्य जीवन और अन्तर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में इसका विचार अवश्य होता आया है और होगा। हमारे यहाँ के लक्षण ग्रन्थों में रसानुभव को तो 'लोकोत्तर' और 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' आदि कहा है, वह अर्थवाद के रूप में, सिद्धान्त रूप में नहीं। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि रस में व्यक्तित्व का लय हो जाता है।"

[इतिहास, पृष्ठ ४६५]

वास्तव में शुक्लजी की लोक-भावना लोकोत्तर कल्याण की भावना है और परलोकमुखी है। पन्तजी के समाजवादी दृष्टिकोण का बहुत रुकते-अटकते हुए शुक्लजी ने स्वागत किया है। अन्ततः आप अपनी आलोचना में विचार-वादी और आदर्शवादी हैं।

शुक्लजी के अनुसार "उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है।"

[इतिहास, पृष्ठ ४५६]

उपर्युक्त गुण शुक्लजी की आलोचना में प्रचुरता से हैं। यद्यपि आपकी शैली को पूर्णतः 'आधुनिक' नहीं कहा जा सकता, आप मध्यकालीन केंचुल छोड़ने का प्रयत्न अवश्य कर रहे थे। आपकी आलोचना युग-सन्धि की आलोचना है।

हिन्दी आलोचना की भूमिका

हिन्दी गद्य का इतिहास उन्नीसवीं सदी से आरम्भ होता है। कुछ गद्य व्रजभाषा मे लिखा अवश्य गया था, किन्तु ब्रज-साहित्य की वास्तविक परम्परा काव्य-प्रधान थी। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों मे हमें ब्रज-भाषा गद्य के नमूने मिलते हैं किन्तु यह गद्य अधिकतर 'अनगढ़' और 'अव्यवस्थित' है। ब्रज साहित्य में कुछ टीकाएं भी उपलब्ध हैं, किन्तु आचार्य शुक्ल के अनुसार यह मूल से भी अधिक दुरूह हैं। ब्रज भाषा के अधिकतर काव्य-ग्रन्थ समीक्षात्मक ही हैं, क्योंकि वे काव्य के रस, अलंकार आदि की विवेचना शास्त्रीय पद्धति से करते हैं और उनकी अधिकतर रचना उदाहरण-स्वरूप है।

खड़ी बोली मे गद्य की प्रतिष्ठा संवत् १८६० के लगभग हुई, किन्तु संवत् १९१४ के विप्लव के बाद ही हिन्दी गद्य की परम्परा शुरू होती है। इससे पहले हिन्दी गद्य विशृंखल और अव्यवस्थित था। संवत् १८६० से १९१४ तक हिन्दी गद्य की रूप-रेखा निर्धारित हो रही थी। राजा शिव-प्रसाद उसे एक रूप देना चाहते थे, 'आमफ़हम और खासपसन्द', राजा लक्ष्मणसिंह दूसरा। इस संघर्ष के फलस्वरूप हिन्दी और उर्दू गद्य की दो स्वतन्त्र शैलियाँ इस देश में प्रचलित हुईं।

भारतेन्दु-युग से हिन्दी गद्य का रूप परिमार्जित और सुगढ़ बनता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार भारतेन्दु ने "गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया" और "हिन्दी साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा किया।" भारतेन्दु को हम आधुनिक हिन्दी साहित्य का जनक कह सकते हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रसार काव्य, नाटक, इतिहास, आलोचना, रंगमंच सभी क्षेत्रों में हुआ।

हिन्दी गद्य के परिष्कार में भारतेन्दु के प्रभाव की शुक्ल जी इन शब्दों में प्रशंसा करते हैं : "उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने गए। मुन्शी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पण्डिताऊपन लिए थी, लल्लू-लाल में व्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्य विन्यास तक में घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोलचाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट-सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रगट हुआ।"

भारतेन्दु युग में दर्जनों पत्र-पत्रिकाएं भी निकलने शुरू हुए जिनमें सामाजिक, राजनीतिक और जीवन-सम्बन्धी अन्य अनेक विषयों पर निबन्धों की भरमार रहती थी। इन पत्रों और निबन्धों ने हिन्दी पाठकों और लेखकों की आलोचना-बुद्धि को मुखरित किया और हिन्दी में साहित्यालोचन की परम्परा की नींव स्थिर की।

आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु की "नाटक" नाम की पुस्तिका से होता है। "नाटक" में भारतेन्दु ने प्राचीन शास्त्र की दृष्टि से साहित्य के इस अंग का अध्ययन किया है। नाटक की परिभाषा भारतेन्दु इस प्रकार करते हैं : "काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यन्त) व ईश्वरांश (जैसा श्रीराम) वा प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसा श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार व वीर ! अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए। उदाहरण शाकुन्तल, वेणी संहार आदि।" प्राचीन शास्त्र के साथ-साथ भारतेन्दु ने पाश्चात्य नाट्य-शैली की ओर भी ध्यान दिया है। अपने ग्रन्थ में भारतेन्दु ने न केवल नाट्य-साहित्य की विवेचना की है, किन्तु रंगमंच, अभिनय आदि समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार भारतेन्दु ने साहित्य के अन्यान्य अंगों के साथ आलोचना की वृद्धि भी इस पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थ से की।

भारतेन्दु युग के अन्य आलोचकों में बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी आदि का नाम आता है। कुछ विद्वानों के अनुसार "हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात 'आनन्द कादम्बिनी' (१८८२ ई०) पत्र में प्रेमघन द्वारा श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्बर' की आलोचना से माना जाता है।" भट्ट जी और बद्रीनारायण चौधरी ने "समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल चलाई।" "संयोगिता स्वयंवर" की चौधरी जी ने कड़ी आलोचना "कादम्बिनी" में की थी। अपने लिखा था कि समालोचना का अर्थ "खुशामद और चापलूसी" नहीं है। "संयोगिता स्वयंवर" में स्वयंवर का ही कोई दृश्य न रक्खा गया था, जो कि "वर्णनीय विषय" था।

भारतेन्दु युग में हिन्दी गद्य अच्छी तरह परिमार्जित हो गया था और गद्य की एक विशिष्ट परम्परा बन चुकी थी। नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना आदि सभी गद्य-रूपों का इस युग में अभूतपूर्व विकास हुआ। गद्य-शैली भी काफ़ी निखर गयी थी। द्विवेदी युग में हिन्दी गद्य का और भी परिमार्जन और विकास हुआ। द्विवेदी युग के लेखक वैयाकरणी थे; वे चुस्त भाषा लिखते थे; वाक्य-विन्यास में जो कुछ शिथिलता थी, उसे इस युग के लेखकों ने दूर किया। द्विवेदी युग के लेखक मुख्यतः गद्य-लेखक और आलोचक थे, अतएव उनके हाथों आलोचना-साहित्य में काफ़ी वृद्धि हुई और आलोचना-शैली में प्रौढ़ता आई।

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक पीढ़ी तक 'सरस्वती' सम्पादक की हैसियत से हिन्दी गद्य-शैली के निर्माण में क्रियात्मक भाग लिया। उनकी आलोचना खरी और पैनी होती थी और वह गुण-दोष विवेचन में बड़े पटु थे। उनके फ़तवे मानो किसी विचाराधीश के आसन से मिलते थे। वह हमें अट्ठारहवीं सदी के अंग्रेजी आलोचकों का स्मरण दिलाते हैं। डाक्टर जॉनसन की भाँति वह अपने युग के साहित्यिक तानाशाह थे। आपके निर्णय के विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील न थी। आचार्य द्विवेदी स्पष्टवादी थे। वे साफ़-सुथरी, मंजी भाषा में किसी भी रचना के गुण और दोषों की

निर्लेप आलोचना करने के अभ्यस्त थे, किन्तु साहित्य की गहराइयों में द्विवेदी जी की आलोचना न उतर सकी। साहित्यालोचन के सिद्धान्तों पर भी द्विवेदी जी ने विशेष कुछ नही लिखा, और जो लिखा भी वह मर्म तक नहीं पहुँचता। किन्तु साहित्य की सच्चाई और ईमानदारी से छानबीन करने की परिपाटी चला कर उन्होंने हिन्दी साहित्य की अतुलनीय सेवा अवश्य की।

द्विवेदी युग के आलोचकों में मिश्रबन्धु, बा० श्यामसुन्दरदास, पंडित पद्मसिंह शर्मा, 'रत्नाकर', पंडित कृष्ण बिहारी मिश्र आदि का बहुत महत्व है। मिश्र-बन्धुओं ने साहित्य के तल तक पहुँचे बिना संग्रह, संकलन और सतह की विवेचना का ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया। मिश्र-बन्धुओं ने आलोचना की स्वस्थ और गम्भीर पद्धति का भी हिन्दी साहित्य में सूत्रपात किया। उनकी 'नवरत्न' हिन्दी साहित्य के निर्माताओं का एक विस्तृत और गम्भीर परिचय है। इस शैली का पूर्ण प्रस्फुटन हम पंडित कृष्ण बिहारी मिश्र की पुस्तक 'देव और बिहारी' में पाते हैं; इसके विपरीत प्राचीन शास्त्रार्थियों की शैली का वेग, ओज और कठोर प्रहार पंडित पद्मसिंह शर्मा अथवा लाला भगवान दीन की रचनाओं में हम देखते हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदास और 'रत्नाकर' की गम्भीर कृतियाँ हिन्दी आलोचना शास्त्र को अधिक गहराई, मार्मिकता और गम्भीरता तक ले जाती हैं। इसी शैली का पूर्ण प्रस्फुटन आचार्य शुक्ल के आलोचना-साहित्य में आगे चल कर हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास ने भाषा और साहित्य के विकास की विस्तृत व्याख्या की। 'रत्नाकर' ने 'बिहारी सतसई' की हिन्दी में सर्वप्रथम मार्मिक टीका और आलोचना लिखी; पाठ के शोध पर आपने विशेष ध्यान दिया। जिस पाण्डित्य से पाश्चात्य विद्वानों ने शेक्सपियर आदि की टीकाएं लिखी हैं, वही हम 'रत्नाकर' के इस प्रयास में पाते हैं।

इस युग में हिन्दी के आलोचकों का दृष्टिकोण भी अधिक व्यापक हो रहा था। इसका प्रमाण पंडित पदमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'विश्व-साहित्य' का अध्ययन था। वास्तव में हिन्दी आलोचना न अब प्राचीन सामन्ती शास्त्र के दायरे में रह सकती थी, यद्यपि साहित्य की परम्परा कभी

अपनी जड़ों से सर्वथा अलग नहीं हो सकती, और न वह गुण-दोष विवेचन की निर्णयात्मक पद्धति तक ही सीमित रह सकती थी। वह साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँचना चाहती थी। वह साहित्य के नए रूपों और मान-दण्डों की नई परिस्थितियों के अनुरूप व्याख्या चाहती थी। बीसवीं सदी के साहित्यालोचन को लक्ष्य करके आचार्य शुक्ल कहते हैं : "गुण-दोष के कथन के आगे बढ़ कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्य प्रवृत्तियों की छान-बीन की ओर भी ध्यान दिया गया।"

इस सम्बन्ध में स्वयं शुक्ल जी की देन पिछले आलोचना साहित्य से कई मंजिल आगे है। तुलसी, सूर और जायसी के अध्ययन में शुक्ल जी ने प्रकाण्ड पाण्डित्य, सूक्ष्मदर्शिता और गम्भीरता का परिचय दिया। भावों, विचारों, भाषा, शैली, रस और साहित्य-परम्परा की व्याख्या शुक्ल जी धीर, गम्भीर भाव से करते थे। वैज्ञानिक दृष्टि से काल-विभाजन कर हिन्दी साहित्य का इतिहास भी शुक्ल जी ने लिखा। यही निष्ठा और साधना शुक्ल जी ने हिन्दी शब्द-कोष के विराट संकलन और सम्पादन में प्रदर्शित की।

इस प्रकार शुक्ल जी ने हिन्दी समालोचना को अभूतपूर्व गम्भीरता और गहराई तक पहुँचाया। शुक्ल जी प्रकाण्ड पंडित थे। किन्तु वे सामाजिक और राजनैतिक हलचलों से दूर रहते थे। आपने पुरातन के अध्ययन और विश्लेषण में अपूर्व क्षमता दिखाई, किन्तु आधुनिक साहित्य का दृष्टिकोण समझने में आप असमर्थ रहे और पन्त, निराला और प्रेमचन्द के साथ न्याय न कर सके। वह आधुनिक दृष्टिकोण उतना अध्यवसाय और सूक्ष्मदर्शिता न रखते हुए भी आपके उत्तराधिकारियों को प्राप्त था। शुक्ल जी के मार्ग पर चलने वाले आलोचकों में हम पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी, पंडित शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री नगेन्द्र आदि को पाते हैं। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी प्राचीन भारतीय आलोचना-शास्त्र के साथ आधुनिक साहित्य की गति-विधि भी समझते हैं। आपकी सर्वग्रहिणी प्रज्ञा आपको साहित्य का मर्म खोजने के लिए विवश करती है, और आप कला के किसी रूप को केवल उसकी नूतनता के कारण बहिष्कार के योग्य नहीं समझते। पंडित

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य और विशेषतया उसके काव्य का भावात्मक अध्ययन किया है और उसकी मनोहर विवेचना की है। इसी प्रकार बाबू गुलाबराय, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री नगेन्द्र आदि ने भी आजकल के साहित्य पर सहानुभूति और उदारता से लिखा है।

भारतेन्दु युग के गुण-दोष विवेचन, द्विवेदी युग की निर्णयात्मक आलोचना और शुक्ल जी की शास्त्रीय सूक्ष्मदर्शिता से आज का साहित्यालोचन पोषित होकर भी उससे बहुत भिन्न है। वह साहित्य के मानदण्डों में विशेष दिलचस्पी ले रहा है। आज हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी की टक्कर का समीक्षक कोई नहीं है। किन्तु दूसरी पंक्ति के इतने प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक हिन्दी साहित्य के पहले किसी काल में न थे।

जिन सिद्धान्तों से आज आलोचना-शास्त्र प्रभावित है, उनमें मूलतः दो ही हैं; एक मनोविश्लेपण की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और दूसरी मार्क्सवादी धारा। इनके सहारे आलोचक साहित्य के मूल तक पहुँचना चाहता है। पहली धारा के प्रमुख लेखकों में श्री इलाचन्द्र जोशी और 'अज्ञेय' हैं। इन्होंने गद्य शैली को बहुत कुछ सजाया है। भारतेन्दु युग के अव्यवस्थित गद्य,द्विवेदी युग की साफ़-सुथरी शैली, और शुक्लजी के गम्भीर नद के प्रवाह समान गद्य से यह नयी गद्य-शैली भी बहुत भिन्न है। अपने अन्तर के जग को ही सर्वोपरि मान कर मनोविश्लेषणवादी लेखक चलते हैं, मनुष्य के मन को अपने में ही पूर्ण इकाई समझ लेते हैं, और उसी शाश्वत मन की अभिव्यक्ति को कला अथवा साहित्य मानते हैं। मार्क्सवादी आलोचकों ने साहित्य को एक प्रवाहमान सरिता के रूप में देखा है। वे इसका सम्बन्ध सामाजिक और राजनैतिक हलचलों से स्थापित करते हैं। और उन्हें प्रभावित करने का एक अस्त्र भी मानते हैं। मार्क्सवादी आलोचकों में प्रमुख श्री शिवदान सिंह चौहान ने शुक्ल जी की विदग्ध शैली अपनाई है, और डा० रामविलास शर्मा चुटीले व्यंग्य के विशेषज्ञ हैं। इन आलोचकों की शैली में शक्ति और बल की अपेक्षा है, और अपने विचार-दर्शन के कारण वे अनायास ही साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँच जाते हैं।

हिन्दी आलोचना में प्रगतिवाद

आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु युग से होता है, जब हिन्दी गद्य का विकास शुरू हुआ। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में हम शास्त्रीय पद्धति की आलोचना पाते हैं, जिसकी प्रेरणा संस्कृत आचार्यों के रीति-ग्रन्थ हैं। मध्य-युग के हिन्दी कवि नवरस, नायिकाभेद, अलंकार और पिंगल आदि का विश्लेषण करते हुए अपने काव्य-ग्रन्थ रचते थे। इस विवेचना का प्रधान गुण भावनाओं का वर्गीकरण था, जो मनुष्य के तथाकथित मनोविकारों को सदा के लिए सुलझा देने का प्रयास था। मनोविश्लेषण शास्त्र के नवीन अनुसंधानों के बाद मनुष्य-मन की अनेकरूपता का जो चित्र मिलता है, वह भावनाओं के इस सहज, सरल वर्गीकरण में किसी प्रकार नहीं बँध सकता। प्राचीन आचार्यों ने इसको नौ वर्गों में बाँटा; उन्होंने शृङ्गार को रसराज माना और अपनी अधिकतर प्रतिभा रस के उद्दीपन, आलंबन आदि की विवेचना में व्यय की। ग्रीक आचार्यों के समान ही दूर-द्रष्टा और मेधावी प्राचीन भारत के आचार्य थे, किन्तु आज का साहित्य न अरस्तू के माप-दण्डों से ही ठीक नापा जा सकता है, न मम्मट के। नया साहित्य नए समाज और मानव-सम्बन्धों का चित्र प्रस्तुत करता है, और उसकी परख के लिए नयी दृष्टि की आवश्यकता होती है।

आधुनिक हिन्दी आलोचना अल्पकाल में ही प्रौढ़ हो गयी, क्योंकि उसके सामने पूर्व और पश्चिम के महान मनीषियों का अक्षय ज्ञान-भण्डार था। भारतेन्दु ने स्वयं हिन्दी के अनेकानेक रूपों को विकसित किया; आलोचना के क्षेत्र में उनका सर्वोत्तम प्रयास 'नाटक' नाम की पुस्तिका थी, जिसका आधार प्राचीन आचार्यों का नाट्य-शास्त्र था। भारतेन्दु के समवर्ती

आलोचकों में श्रीनिवास दास, किशोरीलाल गोस्वामी, 'रत्नाकर', द्विवेदीजी आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग के सर्वोत्कृष्ट आलोचक निस्संदेह पं० रामचन्द्र शुक्ल थे, जिन्होंने पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का सम्बन्ध भारतीय आलोचना-शास्त्र से स्थापित किया। इस पीढ़ी के अन्य आलोचक बा० श्यामसुन्दरदास, पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबंधु, 'दीन', पं० कृष्णबिहारी मिश्र, पदमलाल पुन्नालाल बख्शी थे।

शुक्लजी की आलोचना आधुनिक हिन्दी साहित्य का गौरव है। शुक्ल जी ने आलोचना के क्षेत्र में उतना ही महान कार्य किया, जितना प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य में और 'प्रसाद', पन्त और 'निराला ने काव्य में। इनकी कृतियों से आधुनिक हिन्दी साहित्य समृद्ध और प्रतिष्ठित है।

शुक्लजी और उनके अन्य समकक्षी आलोचक प्राचीन भारतीय आचार्यों के साहित्य-शास्त्र से अच्छी तरह परिचित हैं। इसके फलस्वरूप मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की इन आलोचकों ने उत्कृष्ट समीक्षा की। शुक्ल जी की 'त्रिवेणी', यानी तुलसी, सूर और जायसी के अध्ययन इसका प्रमाण हैं। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य प्राचीन भारतीय परम्परा से प्रेरित है, अतएव शुक्लजी इस साहित्य की परीक्षा को बहुत ऊँचे साहित्यिक स्तर पर ले जाते हैं। यह आलोचक पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र से भी अच्छी तरह परिचित थे, और यह ज्ञान आधुनिक साहित्य की परख के लिए आवश्यक है, क्योंकि जिन परिस्थितियों में आधुनिक पाश्चात्य साहित्य का निर्माण हुआ था, बहुत कुछ उन्हीं परिस्थितियों में आधुनिक भारतीय साहित्य का भी निर्माण हो रहा है।

शुक्लजी की आलोचना-बुद्धि तार्किक थी; आपका पाण्डित्य अगाध था, किन्तु आपकी प्रज्ञा सर्वग्राहिणी न थी। न शुक्लजी की दृष्टि ही वास्तव में आधुनिक है। शुक्लजी न प्रेमचन्द के साथ न्याय कर पाए, न पन्त के। जिन कसौटियों पर आप आधुनिक हिन्दी साहित्य को कसते हैं, उनके अनुसार यह साहित्य खोटा है। स्पष्ट ही दोष कसौटी का है, आधुनिक साहित्य का नहीं। पन्त के काव्य का रस प्राचीन व्यञ्जना और लक्षणा

आदि के अभिदान में नहीं मिल सकता। इसी प्रकार लोक-मंगल की भावना के पोषक शुक्लजी समझते हैं कि प्रेमचन्द जमींदारों के साथ न्याय करने में समर्थ नहीं हुए।

शुक्लजी के परवर्ती आलोचक प्राचीन साहित्य-शास्त्र में पारंगत होते हुए भी यह आधुनिक दृष्टि रखते हैं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि की कृतियों से यह स्पष्ट है। इन सभी आलोचकों ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की सहृदयता और उदारता से परीक्षा की है और वे नवीन साहित्य का मर्म समझने में सफल हुए हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अत्यन्त मेधावी और अध्यवसायी होकर भी आलोचक अपनी समीक्षा में असफल होगा, यदि वह एक युग के मानों को ज्यों-का-त्यों दूसरे युग के साहित्य पर आरोपित करने का प्रयत्न करेगा। युग-विशेष का साहित्य प्राचीन परम्परा का आगे बढ़ा तार होते हुए भी अपना विशेष अस्तित्व रखता है, उसका विचार-दर्शन, भावना-जग, शैली, उपमाएँ आदि सभी कुछ अपनी विशेषता रखते हैं। इसी साहित्य में उसकी परीक्षा के मान भी निहित मिलेंगे। समर्थ आलोचक इन्हीं मूल्यों को खोजता है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आलोचना के मान कोई रहस्य हैं, जिन्हें दैवी प्रेरणा पाकर ही आलोचक समझ सकता है। सफल आलोचना के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता है। आलोचक न केवल साहित्य के बहिरंग—रूप, रस, गंध—की परीक्षा करता है, वरन् उसके प्राण—भावों और विचारों से भी परिचित होना चाहता है। इन सबका परस्पर अन्तरंग सम्बन्ध होता है। साहित्य की भावनाओं और विचार-धारा के अनुरूप उसका बाह्य स्वरूप भी निर्मित होता है। भाषा, उपमाएँ, शब्द-चित्र सभी पर साहित्य के प्राण की छाप रहती है। साहित्य युग की परिस्थितियों के अनुरूप बदलता है और अपने काल की मनःस्थितियों का प्रतिनिधि होता है। आज का आलोचक जब किसी युग-विशेष के साहित्य का अध्ययन करना चाहता है, तो वह उस युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक

विशेषताओं का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार उस युग की विशेष विचार-धाराओं और मनोदशाओं से वह सहज ही परिचित हो जाता है। यह वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण हिन्दी आलोचकों में बढ़ रहा है, किन्तु अभी तक इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास की विवेचना नहीं के बराबर हुई है। हिन्दी के अधिकांश अधिकारी आलोचक अभी तक शाश्वतवादी विवेचना ही करते आ रहे हैं : 'तुलसी में अनन्य भगवद्भक्ति थी'; 'सूर ने शैशव का हृदयग्राही वर्णन किया है', आदि। हिन्दी आलोचना को अब हिन्दी साहित्य के काल-खण्डों का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अध्ययन करना है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि किन विशेष युग-परिस्थितियों में हमारे साहित्य का यह रूप रंग बना; तभी हम उसका अन्तरंग परिचय पा सकेंगे और अपने साहित्य का प्रगतिशील रूप पहचान सकेंगे।

सन् १६३६ से भारतीय साहित्य में प्रगतिवाद का आन्दोलन शुरू हुआ। यह युग भारतीय राजनीति में बड़े महत्व का युग है। इसी काल में राष्ट्रीय कांग्रेस में वाम पार्श्व का जन्म हुआ, जो देश में श्रमजीवी और किसान-वर्ग की बढ़ती शक्ति की सूचना थी। साहित्य में प्रगतिवाद का आन्दोलन जनता की नयी शक्ति का एक संकेत है। यह साहित्यिक आन्दोलन विश्व-व्यापी है और साहित्यकार की जागरूक सामाजिक चेतना का प्रमाण है। भारत के प्रगतिशील लेखकों ने स्वाधीनता और सामाजिक न्याय के युद्ध में आगे बढ़कर भाग लेने का बीड़ा उठाया। उन्होंने साम्राज्यवाद, सामन्तवाद आदि प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध जेहाद में योग देने का प्रण किया। यह आन्दोलन सिद्ध करता है कि भारतीय लेखक अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग थे। वे समझते थे कि संकुचित अथवा कुंठित व्यक्तित्व की भावना, अनुभूति और कल्पना उच्चतम साहित्य की सृष्टि करने में असमर्थ रहेगी; महान साहित्य के पीछे महाप्राण कलाकार की प्रेरणा होगी, और अपने ही सीमित व्यक्तित्व का बन्दी लेखक महाप्राण कला की सृष्टि नहीं कर सकता। तीव्र अनुभूति, गहरी भावना और तरल कल्पना के अतिरिक्त महान साहित्य उदार विचार-धाराओं का परिचायक भी होता है। प्रगति-

वाद ने साहित्य की विचार-भूमि को पुष्ट करने का प्रयत्न किया और साहित्य के क्षेत्र में ह्रास-मूलक प्रवृत्तियों के विरुद्ध कलाकार को चेतावनी दी।

सन् १९३६ से '४६ तक हिन्दी के अनेक उन्नत और उदीयमान कलाकार प्रगतिवाद से प्रभावित हुए। इनमें प्रेमचन्द और पन्त प्रमुख थे। जिन कलाकारों पर इस नवीन आन्दोलन का प्रभाव नहीं पड़ा, उनकी गिनती नहीं के बराबर है। नये लेखक बड़ी संख्या में इस धारा की ओर मुड़े और शायद यह कहना अनुचित न होगा कि छायावाद का साहित्यिक उत्तराधिकार प्रगतिवाद के समर्थ कन्धों ने सम्हाला।

इस काल-खंड में साहित्य के अन्य क्षेत्रों के समान आलोचना में भी प्रमुख धारा प्रगतिवाद रहा। यह सच है कि हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित आलोचक श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, बा० गुलाबराय आदि इस आन्दोलन में पूरी तौर से न आ सके, किन्तु उनकी सद्भावना और सहयोग अवश्य प्रगतिवाद को प्राप्त हुए। प्रगतिवाद के प्रमुख आलोचक श्री शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, नरेन्द्र, अमृतराय, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध, शमशेर आदि थे; इन प्रतिभा-संपन्न लेखकों ने समीक्षा के सिद्धान्तों पर अनवरत लिखा और आधुनिक साहित्य की सविस्तार विवेचना की। इनके अतिरिक्त पन्त और यशपाल ने अपनी भूमिकाओं में प्रगतिवाद के सिद्धान्तों पर अनन्य प्रकाश डाला।

इस तालिका से प्रगतिवाद की लोकप्रियता तो अवश्य प्रकट होती है, किन्तु आलोचना-साहित्य में उसकी महत्वपूर्ण स्थापनाओं का अनुमान नहीं होता। प्रगतिवादी दृष्टिकोण से जो आलोचना पुस्तकें निकली हैं, उनमें 'प्रगतिवाद,' 'भारतेन्दु-युग,' 'नया हिन्दी-साहित्य,' 'समाज और साहित्य,' 'युग और साहित्य' उल्लेखनीय हैं। प्रगतिवाद-सम्बन्धी स्थापनाएँ निबन्धों के रूप में ही अधिक हुई हैं; इस प्रकार के निबन्धों में 'कामायिनी' पर मुक्तिबोध और 'त्रिशंकु' पर केदार की आलोचना के समान महत्वपूर्ण प्रयास शामिल हैं।

प्रगतिवादी आलोचना ने साहित्य के सामाजिक पक्ष पर विशेष जोर

दिया। पुराने आलोचक कला में अन्तर्निहित विचार-पुंज, भावनाओं और जीवन-चित्रण का विश्लेषण कम करते थे, उसके बाह्य रूप, भाषा, शैली, संगीत, रूप-रंग आदि की चर्चा अधिक। प्रगतिवाद ने कला के बाह्य और अन्तर दोनों रूपों को समान महत्व दिया। यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रगतिवादी आलोचकों ने अतिशय कलावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप सामाजिक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया। स्पष्ट ही कला के बाह्य रूप और अन्तः-प्राण की आलोचना एक साथ होनी चाहिए। कलाकार के विचारों और मनोभावों का प्रभाव उसकी कृति के बहिरंग पर अवश्य ही पड़ता है। अतएव कला और भावनाओं-विचारों आदि के घात-प्रतिघात का समुचित अध्ययन करना आलोचक के लिए आवश्यक है।

प्रगतिवादी आलोचना ने कला की विचार-भूमि को विशेष महत्व दिया। पूर्ववर्ती आलोचक विचारों की महत्ता अपेक्षाकृत कम मानते थे। विचार-पुंज समस्त कला का आधार हैं। विचारों और भावनाओं—जो स्वयं विचारों से उद्वेलित होती हैं और जिनका विचारों पर प्रभाव पड़ता है—की अभिव्यक्ति के लिए ही कला की सृष्टि होती है। विचार-रहित कला की कल्पना भी असम्भव है। कलाकार अपनी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप-रंग को अवश्य निखार-सँवार कर सुन्दर और सबल बनाना चाहता है, किन्तु केवल सुन्दरता के लिए महान कला की सृष्टि कभी नहीं हुई। प्रगतिशील आलोचक इन विचारों की परीक्षा करके यह जानना चाहता है कि वे कहाँ तक सामाजिक गति और विकास में सहायता देते हैं, अथवा बाधा डालते हैं। आज के युग में इस विचार-परीक्षा को हम वैज्ञानिक धरातल पर कर सकते हैं। प्रगतिवाद का आग्रह है कि कलाकार सामाजिक विकास के क्रम में योग दे और अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग और सचेत रहे।

प्रगतिवाद ने कला के अन्दर घर करती हुई सामाजिक प्रवृत्तियों से संघर्ष किया। इन प्रवृत्तियों को रहस्यवाद, कलावाद, शाश्वतवाद, व्यक्तिवाद, प्रयोगवाद आदि नामों से पुकारा गया है। इनमें अधिकतर भाव-धाराएँ मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित और प्रेरित हैं। इनके प्रभाव से कलाकार

का अहम् विराट् रूप धारण कर लेता है; वह अपने भावों को शाश्वत, अपरिवर्तनशील सत्य समझने लगता है, बेल-बूटे बनाने में अपनी कला का आदि-अन्त मानता है और समाज के प्रति उदासीनता अथवा उपेक्षा का भाव धारण कर लेता है। वह सोचता है कि समाज सतत परिवर्तनशील है, किन्तु उसकी कला चिरन्तन सत्य, अजर-अमर है। अपने अभिमान में वह यह अनुभव करने में असमर्थ रहता है कि कला भी एक सामाजिक क्रिया है और संस्कृतियों के उत्थान-पतन के साथ उसका अन्तरंग सम्बन्ध है।

प्रगतिवादी आलोचना ने कला की गतिशीलता पर काफ़ी जोर डाला। प्रत्येक देश और युग की कला विशेष रूप धारण करती है, यह सत्य मोटे रूप में सभी आलोचक स्वीकार करते हैं। तभी तो भाषा और साहित्य के इतिहास को वह युगों और काल-खण्डों में विभाजित करते हैं! किन्तु फिर भी कला के सत्य, चिरन्तन रूप, की वह निरन्तर चर्चा करते हैं। प्रगतिवादी आलोचना की मुख्य स्थापनाओं में से एक यह है कि युग-विशेष की सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में साहित्य का अध्ययन किया जाय, जिससे कि उसके गुणों और विशेषताओं का अन्तरंग परिचय पाठक पा सकें। इसका तात्पर्य यह है कि कला का स्रष्टा व्यक्ति-कलाकार तो है ही, किन्तु उसके युग की परिस्थितियाँ भी हैं, जिन्होंने उसके व्यक्तित्व को विकसित और पुष्ट किया है। पूर्ववर्ती आलोचकों ने कलाकार के व्यक्तित्व का अतिरंजित महत्व माना; प्रगतिवादी आलोचकों ने इस व्यक्तित्व को युग की सीमाओं में रखकर उसकी विवेचना की। इस प्रकार कला का सामाजिक दायित्व साहित्य में प्रतिष्ठित हुआ, यद्यपि 'युग-युग की वाणी' होने का उसका मोह-भ्रम अवश्य टूटा।

सन् १९३६ से '४६ का युग प्रगतिवादी युग है, क्योंकि इस काल-खण्ड में प्रगतिवादी विचार-धारा ही हिन्दी साहित्य में सबसे बलवती थी। आलोचना-क्षेत्र में भी प्रगतिवादी आलोचक सबसे अधिक सचेत और क्रियाशील थे। उन्होंने आधुनिक साहित्य का अनवरत मूल्यांकन किया और नये, प्रतिभावान लेखकों की साहित्यिक और सामाजिक चेतना जगायी।

यदि हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में आलोचना-निबंध अथवा पुस्तक-परिचय आप देखें, तो प्रगतिवादी आलोचकों की कर्मठता और सजगता का अनुमान कुछ कर सकेंगे। पुरानी विचार-धारा के लेखकों में इस युग मे बा० गुलाब-राय, श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र ही इस अनवरत अध्यवसाय से लिखते रहे हैं।

इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि प्रगतिवादी आलोचकों ने अभी तक हिन्दी साहित्य के पुराने इतिहास का मूल्यांकन नवीन दृष्टि से नहीं किया। हमें प्राचीन भारतीय साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन और मनन करना है। यदि प्रगतिवादी आलोचकों के सिद्धान्त-सम्बन्धी निबन्ध एकत्रित किये जायँ, तो वे कई भारी-भरकम पुस्तकें बन सकती हैं। किन्तु प्रगतिवादी समीक्षा पर स्वतन्त्र पुस्तकों की अभी बड़ी आवश्यकता है।

प्रगतिवाद क्या है, इसकी चर्चा भारतीय साहित्य में अनेक वर्षों से निरन्तर हो रही है। हिन्दी में भी प्रगतिवादी आलोचकों ने इस सम्बन्ध में काफ़ी लिखा है। किन्तु फिर भी प्रगतिवाद का निरन्तर स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रगतिवाद रूढ़ और गतिहीन मतवाद नहीं है। न प्रगतिवादी कलाकार सामाजिक संघर्ष से अलग रह सकता है। प्रगतिवादी कला का पहला सिद्धान्त कलाकार का अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत होना है। वह सामाजिक बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। उसके विचारों और अनुभव के अनुरूप उसकी कला का रूप भी बदलेगा। छायावादी पन्त ने 'वीणा', 'पल्लव' और 'गुञ्जन' लिखे, प्रगतिवादी पन्त ने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'। आज फिर पन्त की कला ने अपनी वेश-भूषा बदली है, क्योंकि कवि के विचारों में फिर एक बार आमूल परिवर्तन हुआ है। क्यूबिस्ट पिकासो ने एक विशेष कला का निर्माण किया था, किन्तु आज का समाजवादी पिकासो क्या अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के पुराने माध्यम से सन्तुष्ट हो सकता है?

प्रगतिवादी कला अपनी अभिव्यक्ति के नये साधन अवश्य तैयार करेगी, जो पुरानी कला से भिन्न होंगे। किन्तु कोई भी ईमानदार और प्रतिभावान कलाकार हीन कला की सृष्टि न करेगा। विचारों का प्रसार और प्रचार तो

अनिवार्य है, चाहे आप आदर्शवादी हों, चाहे समाजवादी। अच्छा कलाकार उस प्रचार को अवश्य ही कलात्मक रूप देगा, नहीं तो वह अपने ध्येय में असफल होगा।

इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि प्रगतिवाद और मार्क्सवाद पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। प्रगतिवाद व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत मार्क्सवादी और अन्य सभी प्रगतिशील लेखक आते हैं। प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा-पत्र के अनुसार वे सभी लेखक संघ के सदस्य हो सकते हैं, जो स्वाधीनता और सामाजिक न्याय के संघर्ष में भाग लेने को तैयार हैं : जो सामन्तवाद, साम्राज्यवाद आदि प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध अस्त्र उठाना उचित समझते हैं; जो साहित्य में अश्लीलता, अवसरवाद आदि कुत्सित प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं, और स्वच्छ,निर्मल साहित्य-सृष्टि में आस्था रखते हैं।

प्रगतिवाद लेखक को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत करता है। आज इस कर्तव्य के प्रति लेखक की उदासीनता असम्भव हो गयी है। प्रगतिवाद के कल के विरोधी भी आज इस दायित्व को स्वीकार करने लगे हैं। यह प्रगतिवादी आन्दोलन की शक्ति का चिह्न है। अब इन लेखकों को संघ में आकर कार्य करना चाहिए और उसकी साहित्यिक नीति निर्धारित करने में भाग लेना चाहिए।

प्रगतिवादी आलोचना ने अपने दस वर्ष के लघु जीवन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। प्रगतिवाद के साहित्यिक रूप को उसने निर्धारित और स्पष्ट किया है। इन समीक्षा-सिद्धांतों की अधिक विस्तृत विवेचना आवश्यक है। प्रगतिवादी सौंदर्य-शास्त्र की नींव तो प्रगतिवाद के आलोचक रख चुके हैं। अब इस नींव पर आलोचना-शास्त्र की इमारत खड़ी करनी है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग और छायावाद का सिंहावलोकन प्रगतिवादी आलोचक कर चुके हैं। हिन्दी साहित्य के प्राचीन काल-खण्डों का अध्ययन अभी बाकी है। प्राचीन भारतीय साहित्य और दर्शन की विस्तृत समीक्षा भी होनी चाहिए।

नए लेखकों को प्रगतिवादी आलोचना से बहुत प्रेरणा और शक्ति मिली है। आधुनिक साहित्य की गति-विधि का संचालन प्रगतिवादी आलोचना ने योग्यता-पूर्वक किया है, किन्तु और भी अधिक परिश्रम, अध्यवसाय और गंभीरता से प्रगतिवादी आलोचकों को लिखना है। उनमें सचाई, कर्तव्य-निष्ठा और प्रतिभा है, किन्तु उनकी रचनाओं में और भी अधिक बल और पाण्डित्य की अपेक्षा है। उनके संरक्षण में उच्चतम श्रेणी का साहित्य-सृजन होगा, जो न केवल उत्कृष्ट साहित्य होगा, किन्तु हमारी सामाजिक प्रगति में सहायता देने के लिए एक तेज, चमकीला अस्त्र भी होगा।[1]

१. अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अवसर पर पठित निबन्ध।

हिन्दी आलोचना में नई प्रवृत्तियाँ

हिन्दी साहित्य के अन्य रूपों की भाँति आलोचना में भी काफ़ी विकास हो चुका है और प्रौढ़ता आ गई है। जो दो प्रवृत्तियाँ हिन्दी आलोचना में क्रियाशील हैं, उनमें एक प्राचीन रस-शास्त्र पर आश्रित है, और दूसरी नवीन पाश्चात्य पद्धतियों को अपनाती है। आज हिन्दी के प्रमुख आलोचकों में शुद्ध रस-पद्धति का कोई अभिव्यक्ता नहीं है। रस-शास्त्र जिस कला और सामाजिक परम्परा पर आश्रित था, वह अब काल-कवलित हो चुकी है। अतएव नवीन साहित्य की परख के लिए नई कसौटियाँ भी गढ़ना जरूरी हो जाता है। साहित्य एक बहती नदी के समान है; उसकी सम्पूर्ण गति का अनुभव एक घाट पर खड़ा व्यक्ति नहीं कर सकता। नए सामाजिक विधान ने नए साहित्य को जन्म दिया है, और इस नए साहित्य को परखने के लिए उसके अन्दर से ही नियम निकालने होंगे। साहित्य के विकास के साथ-साथ आलोचना-शास्त्र का भी विकास अवश्य होता है।

यद्यपि हिन्दी के आलोचकों में आज शुद्ध रसवादी कोई नहीं बचा है, पुराने आलोचना-शास्त्र से हमारे प्रमुख आलोचक प्रभावित काफ़ी हुए हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जहाँ साहित्य का रूप निरन्तर बदला करता है, वह प्राचीन के विशिष्ट अवशेषों का उत्तराधिकार लेकर ही आगे बढ़ता है। जिन धुरन्धर आलोचकों के नाम इस श्रेणी में आते हैं, उनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, बा० गुलाबराय और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी मुख्य हैं। इन महारथियों के आलोचना-शास्त्र का आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास से अंतरंग सम्बन्ध है। यह आलोचक भारत के प्राचीन रसवाद से अच्छी तरह परिचित हैं, साथ ही उन्होंने पाश्चात्य

आलोचना ग्रन्थों का भी गहरा अध्ययन किया है। जिस साहित्यिक धारा के प्रतिनिधि यह आलोचक हैं, उसे शास्त्रीय पद्धति कह सकते हैं।

आचार्य शुक्ल इस श्रेणी के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे। उन्होंने हिन्दी आलोचना को अनन्य प्रौढ़ता प्रदान की और एक गम्भीर आलोचना-शैली का निर्माण किया। तुलसी, सूर और जायसी के शुक्लजी ने पांडित्यपूर्ण अध्ययन पेश किये और हिन्दी साहित्य का अधिकारपूर्ण इतिहास लिखा। शुक्लजी के आलोचना-साहित्य की अपनी सीमाएँ भी थीं। जीवन के अन्त में ही आप इन सीमाओं को पार करने में समर्थ हुए थे। प्राचीन साहित्य के, विशेष रूप से भक्ति-साहित्य के, निरूपण में शुक्लजी अद्वितीय थे।

शास्त्रीय पद्धति का प्रचार विश्वविद्यालयों, शिक्षकों और छात्रों में बहुत है। इस श्रेणी के अन्य आलोचकों ने आधुनिक साहित्य की काफ़ी महत्वपूर्ण छानबीन की है। उनकी आलोचना का हिन्दी साहित्य की गति पर काफ़ी प्रभाव भी पड़ा है।

किन्तु आजकल हिन्दी साहित्य में अनेक नई प्रवृत्तियाँ भी गतिशील हैं, जिनको समझना जरूरी है। जिन दो विशेष धाराओं में नया साहित्य बट रहा है, उन्हें हम (१) मनोविज्ञान की धारा और (२) समाजवाद की धारा कह सकते हैं। पहली धारा मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से प्रभावित हुई है, और दूसरी मार्क्सवाद से। इन धाराओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य के सभी अवयवों पर पड़ा है। उपन्यास, कहानी, कविता, आलोचना सभी साहित्य के रूपों में इस संघर्ष का प्रतिबिम्ब है।

मनोविश्लेषण के प्रभाव से साहित्यकार मनुष्य के अन्तर्मन के पर्तों को खोलने के प्रयास में लगता है। उसे लगता है कि मनुष्य स्वभाव से ही मलिन और कुत्सित है; उसके अन्तरतम में कुंडली मारे कोई आदिम विषधर फुफकार रहा है; और यह व्यापार शाश्वत है, मनुष्य सदा ही वासनाओं का शिकार रहा है, और रहेगा। इस विडम्बना से कोई त्राण नहीं।

मनोविश्लेषण से यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नहीं है, किन्तु आज उससे यही निष्कर्ष हिन्दी साहित्य में निकाला जा रहा है। मनोविश्लेषण ने

मनोविज्ञान की सीमाओं का विस्तार किया है, मनुष्य के मन की जटिलता और दुरूहता का सजीव चित्र खींचा है, अनेक मानसिक रोगों का उपचार मनोविश्लेषण विज्ञान के शास्त्रियों ने किया है। यदि मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों को हमारे साहित्यिक अच्छी तरह पचा सकते, तो अवश्य ही उनका बल बढ़ता। किन्तु वह इन सिद्धान्तों का सामाजिक उपयोग न कर सके, और क्षीण पाचन शक्ति के कारण इनका उचित समन्वय न कर सके।

हिन्दी के जो साहित्यकार मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित हुए हैं, उनमें श्री इलाचन्द्र जोशी का उल्लेख आवश्यक है। आपके अनुसार हिन्दी के छायावादी और प्रगतिवादी लेखक हीनता की भावना के शिकार हैं और अपने साहित्य में उसी भावना की क्षति-पूर्ति के साधन खोजते हैं। आपने यह खोजबीन करने की चेष्टा नहीं की कि क्यों हमारे लेखक इस भावना के शिकार हैं, किन सामाजिक परिस्थितियों ने उनके अन्तर्मन में यह गुत्थियाँ डाली हैं, और किस प्रकार नई समाज-व्यवस्था इसका प्रतिशोध कर सकती है। "प्रेत और छाया" की भूमिका में जोशीजी ने मनोविश्लेषण के अन्य पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया है। आपने इस नई दृष्टि से इतिहास का विकास इस प्रकार देखा है : "आदि-काल से जब मनुष्य इस पृथ्वी पर पशु की अवस्था में चार पावों के बल चला-फिरा करता था, तबसे, बल्कि इससे भी पहले से लेकर आज तक के विकास-काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्वमानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गईं, उनमें समयानुक्रम से (और सृष्टि के उसी अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से) संस्कार-परिशोधन होते चले गये। पर जिन प्रारम्भिक वृत्तियों का संस्कार हुआ, वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना-लोक में सञ्चित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियों का भी पुनः परिशोधन हुआ और इस नए परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिपकर अज्ञात ही रूप से सञ्चित हो गईं। यह क्रम आज तक बराबर प्रवर्तित होता चला गया है। इस अपरिमित दीर्घ-

काल के भीतर असंख्य मूल पशु-प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और भरे पड़े हैं।"

मनोविश्लेषण की यह सिद्धान्त-समीक्षा हिन्दी के साहित्यकारों को स्वभावतः ही व्यक्तिवाद की ओर ले जाती है। जोशीजी लिखते हैं—"अन्तर्मन के अतल में दबी पड़ी ये प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक और फलस्वरूप सामूहिक मानव के आचरणों तथा पारिवारिक और सामाजिक संगठनों को किस हद तक युगों से परिचालित करती आई हैं और आज भी कर रही हैं इसका यदि खाता तैयार किया जाय, तो आश्चर्य से स्तब्ध रह जाना पड़ेगा।" आपके अनुसार "ये व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ ही संसार के महान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चक्रों के बीजरूप—बल्कि मूलगत प्रतीक और आधारभूत सिद्धान्त हैं।"

उपरोक्त सिद्धान्तों को आज हिन्दी के अनेक पुरातन-पन्थी मानने लगे हैं। इस दिशा में श्री नगेन्द्र का मतपरिवर्तन—जो एक दीर्घकाल से रसवादी और शाश्वतवादी रहे हैं—एक निर्देशमात्र है। छायावादी काव्य के अनन्य उपासक रह कर आज आप उसकी विवेचना फ्रॉयड और उसके शिष्यों की शब्दावली में करते हैं। 'दीपशिखा' के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—"वास्तव में सभी ललित कलाओं के—विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के—मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।" इस प्रकार छायावादी काव्य को आप अतृप्त काम-वासना की अभिव्यक्ति मानते हैं। किन सामाजिक परिस्थितियों ने हमारे कलाकार के अहम् को कुचला है और उसके काव्य को अरण्य-रोदन में परिणित किया है, इसका कोई परिचय नगेन्द्रजी नहीं देते। आप इतना कहकर ही सन्तोष कर लेते है कि कला 'अहं' का विस्फोट है। "साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है। वह जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। अतः स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान होगा उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा, जिसका पूर्णतः समाजीकरण असम्भव, नहीं तो दुष्कर

अवश्य हो जायगा।...संसार में ऐसा साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इकबाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असन्दिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान है, वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं।"

इस सिलसिले से हिन्दी साहित्य के एक अन्य व्यक्तित्व, 'अज्ञेय' का उल्लेख आवश्यक है। आपके आलोचना-निबन्धों 'त्रिशंकु' का प्रकाशन अभी हाल में हुआ था, किन्तु इस संग्रह के अनेक निबन्ध पहले भी प्रकाश में आ चुके हैं। 'अज्ञेय' इलियट की काव्य-परिभाषा को स्वीकार करते हैं, यानी "कविता निजी अनुभूति की मुक्ति—अभिव्यक्ति—नहीं, वह अनुभूति से मुक्ति है; व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं, व्यक्तित्व से छुटकारा है।"

आगे चलकर 'अज्ञेय' भी मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से हिन्दी काव्य की परीक्षा करते हैं, और उसे अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए, लालसा का, इच्छित विश्वास (wishful thinking) का साहित्य मानते हैं। आप कहते हैं : "भारतीय साहित्यिक पाता है कि उसके आसपास सब-कुछ बदल रहा है, जो मान्यताएँ ध्रुव-सी अटल मानी जा रही थीं, वे सब सहसा संदिग्ध हो उठी हैं। इस डगमग स्थिति में, आमूल परिवर्तन की लहर से सहसा हतबुद्धि होकर वह किसी आश्रय की, किसी आड़ की, 'घर' की खोज में विह्वल हो उठा है। या फिर कभी ऐसा भी हुआ है कि वह स्वयं अपने को ही अपने समवर्तियों से भिन्न पाता है—अनुभव करता है कि वही बदल गया है, तीव्र जीवनानुभव के दबाव ने उसे तो गति दी है, पर उसके आसपास का समाज अचल है, जड़ है, गतिहीन खड़ा है। दोनों स्थितियों का असर एक-सा होता है—व्यक्ति 'बिन पानी की मछली-सा' महसूस करता है, अनुकूलता के लिए छटपटाता है, 'संतोषजनक सामाजिक दल' की माँग करता है—घर लौटना चाहता है।..."

हिन्दी आलोचना में इस प्रकार मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों की स्थापना छुटपुट रूप से हुई है, किन्तु हिन्दी साहित्य की व्याख्या इस दृष्टिकोण से

बहुत कम हुई है, इसके अलावा कि आज का साहित्यकार कुण्ठाओं का शिकार है, और यही मन की गुत्थियाँ उसके साहित्य का रूप निर्दिष्ट करती हैं।

हिन्दी आलोचना की दूसरी बलवती धारा मार्क्सवादी है। एक हद तक हिन्दी के अनेक लेखक इस विचार-धारा से प्रभावित हुए हैं। व्यक्ति को सामाजिक परिस्थितियों से अलग काटकर देखने का प्रयत्न अब हिन्दी साहित्य में कम हो रहा है। मार्क्सवादी आलोचक कला को सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का एक अंग मानते हैं। वे कला को उसके ऐतिहासिक ढाँचे में रखकर देखते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा को स्वीकार करते हुए वे उन परिस्थितियों की विवेचना करते हैं, जो कलाकार के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करती हैं; अथवा कुण्ठित करती हैं। साहित्य को सामाजिक विकास-क्रम का दर्पण मानते हुए, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कला समाज और राजनीति की गति को प्रभावित कर सकती है। अतएव वे कला को समाज की प्रगतिगामी शक्तियों में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इस ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य का निरन्तर मूल्यांकन किया है। इस प्रयास में श्री शिवदानसिंह चौहान के निबन्ध-संग्रह 'प्रगतिवाद' का विशेष उल्लेख जरूरी है। यह समाजवादी आलोचना-शैली हिन्दी साहित्य में एक अभिनव प्रयास है। चौहान अपनी आलोचनाओं में कला और साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँचना चाहते हैं; संस्कृति और कला का निर्माण और विकास किन परिस्थितियों में हुआ, इसकी परीक्षा करते हैं और एक गहरी पैनी दृष्टि साहित्य के रूपों पर डालते हैं। आपने आलोचना-शास्त्र और छायावाद की सामाजिक पृष्ठभूमि का विशेष अध्ययन किया है।

कविता की परिभाषा चौहान इस प्रकार करते हैं: "कविता का समाज से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। क्योंकि कविता का मनुष्य के भावों से सम्बन्ध है। आदिकाल से मनुष्य प्रकृति से युद्ध करता आया है—उस पर विजय प्राप्त करने, उसके अन्तरतम प्रदेशों में प्रविष्ट कर, उसके निगूढ़ रहस्यों का उद्-

घाटन कर, उसके साथ उच्चतम स्तर पर समतुल्यता स्थापित करने के लिए; क्योंकि मनुष्य प्रकृति के अन्ध प्रकोपों और बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, क्योंकि वह स्वतन्त्रता चाहता है।

"कविता कला है। मनुष्य के श्रम की तरह वह भी स्वतन्त्रता का अस्त्र है। जिस प्रकार मनुष्य वास्तविकता के बदलने में वाह्य-वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर पाता है (विज्ञान द्वारा), उसी प्रकार अन्य मनुष्यों के 'अहं' की अनुरूपता का ज्ञान भी उसे 'अहं' के बदलने के प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त होता है। (कविता और कला द्वारा) भौतिक जगत् के समान मनुष्य के सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन अनिवार्य है, केवल वाह्य जीवन में ही नहीं, वरन् उसके आन्तरिक जीवन या भाव-जगत् में भी। इसीलिए समाज के सामूहिक भाव, समाज के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होते जाते हैं। (यह आवश्यक नहीं कि उनके परिवर्तन की गति समान ही हो) अतः कला की भी यह विशेषता है कि वह परिवर्तनशील और प्रगतिशील है।

"कविता मनुष्य की स्वतन्त्रता का अस्त्र है।"

नरेन्द्र शर्मा ने समाजवादी दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डाली है, और विशेष रूप से आधुनिक हिन्दी कविता का अध्ययन किया है।

रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द, भारतेन्दु-युग और विशेषकर आजकल के साहित्य पर लिखा है। आप अपनी आलोचना में विषय-वस्तु पर निर्ममता से दृष्टि केन्द्रित करते हैं। आपके व्यंग और तीखी शैली से आपका शिकार तिलमिला उठता है।

मार्क्सवादियों ने आलोचना-शास्त्र और आधुनिक साहित्य पर ही अधिकतर लिखा है। इस दृष्टिकोण से पुराने साहित्य की विवेचना अभी बहुत कम हुई है।

इन्हीं दिशाओं में हिन्दी के आलोचक आजकल बढ़ रहे हैं।

हिन्दी उपन्यास

हिन्दी उपन्यास का इतिहास भारतेन्दु-युग में 'परीक्षा-गुरु' से शुरू होता है। इसके पहले अनेक प्रकार के क़िस्से-कहानी तो हिन्दी में लिखे गए थे, लेकिन आधुनिक अर्थ में पहला उपन्यास यही था। तिलस्मी उपन्यास घटना-प्रधान होते थे; उनमें सामाजिक तत्व बहुत कम था; चरित्र-चित्रण भी उथला और ऊपरी रहता था। बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता', चन्द्रकान्ता-सन्तति', 'भूतनाथ' आदि एक ज़माने में बहुत पढ़े गए। इसके बाद पंडित गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास भी बहुत लोकप्रिय हुए। लेकिन एक प्रकार से ये उपन्यास एक अलग ही साहित्य-कृति थे। 'परीक्षा-गुरु' में हमें सर्वप्रथम सामाजिक जीवन चित्रित करने का प्रयास मिलता है।

'परीक्षा-गुरु' आज के मूल्यों के अनुसार अधिक ऊँचे पाये की रचना नहीं ठहरती; लेकिन यह पथ-प्रदर्शन का कार्य महत्वपूर्ण था। 'परीक्षा-गुरु' हमें वाणिज्य और रईसी की दुनिया में ले जाता है; उपन्यासकार इस दुनिया को व्यंग-दृष्टि से देखता है; अनेक घटनाओं का जाल उसने बुना है; उसकी गद्य-शैली भी प्रौढ़ और निखरी नहीं है; किन्तु उसमें आधुनिक उपन्यास के सभी अणु मौजूद हैं।

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी का नाम भी आदर के साथ लेना चाहिए। आपने 'परीक्षा-गुरु' की परम्परा को विकास के पथ पर बढ़ाया। आपने दर्जनों उपन्यास लिखे, जिनमें सामाजिक तत्व हैं, लेकिन जो कथानक की चतुराई, घटना-बाहुल्य आदि के कारण ही मनोरंजक हैं, जिनका महत्त्व सामाजिक जीवन और मानव-चरित्र की गहराइयों में पैठने पर अवलम्बित नहीं है।

प्रेमचन्द के आगमन के साथ हिन्दी उपन्यास पूर्ण वयः-प्राप्त होता है। उपन्यास को आलोचकों ने 'औद्योगिक क्रान्ति के युग का महाकाव्य' कहा है। जिस प्रकार इतिहास के आरम्भिक काल का दर्शन हम महाकाव्य में पाते हैं, उसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के युग का दर्शन उपन्यास में। अंग्रेजों के आगमन के बाद भारत का पुराना सामाजिक ढाँचा टूटने लगा और इसके फलस्वरूप साहित्य के रूपों में भी भारी उथल-पुथल मची। कविता में एक नई परम्परा, छायावाद का और गीति-काव्य का आरम्भ होता है, जो कि व्यक्तिगत प्रेरणा की अभिव्यक्ति हैं और साहित्यिक रूढ़ियों को तोड़ते हैं। हिन्दी के गद्य-साहित्य का श्रीगणेश भी यहीं से होता है।

भारतेन्दु-युग में सामाजिक उथल-पुथल शुरू हुई थी, लेकिन उसका अतिक्रमण द्विवेदी युग और छायावादी युग में होता है। इसी के फलस्वरूप साहित्य के रूपों में भी हम अधिक विकास और परिष्कार देखते हैं। यही अन्तर 'परीक्षा-गुरु' और 'सेवा-सदन' के बीच है।

प्रेमचन्द का हिन्दी साहित्य में आगमन धूमकेतु के समान हुआ। आते ही कथा-साहित्य की भूमि पर वह छा गए। प्रेमचन्द की जीवन-कथा और व्यक्तित्व रोचक हैं। प्रेमचन्द बड़े सरल व्यक्ति थे और उनका स्वभाव बहुत ही मधुर था। बड़े स्नेह से वे छोटों और बड़ों सभी से मिलते थे। उनकी हँसी प्रसिद्ध है; खूब खुलकर वे हँसते थे। उनके पुत्रों ने वही हँसी पाई है, जिसे सुनकर अनायास ही उस अनुपम कलाकार का स्मरण हो आता है। उनका लिबास इतना सादा था कि उन्हें देखकर यह कल्पना भी न होती थी कि प्रेमचन्द यही हैं। प्रेमचन्द अपने आत्म-परिचय में लिखते हैं कि बचपन में चोरी से 'बैताल-पचीसी', 'चन्द्रकान्ता' आदि वे खूब पढ़ते थे। इसी पाठशाला में उनकी साहित्यिक प्रतिभा परिपक्व हुई। प्रेमचन्द अपने जीवन-काल में बनारस, गोरखपुर आदि में अध्यापक रहे थे। डा० राम-प्रसाद त्रिपाठी बनारस में उनके शिष्य थे और बताते हैं कि अध्यापक की हैसियत से प्रेमचन्द बड़े सख्त थे। संग्रहणी से बीमार रहने और राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होने के कारण प्रेमचन्द ने नौकरी छोड़ दी और

साहित्य-सेवा में पूर्ण रूप से लिप्त हो गए। उर्दू में उन्होंने लिखना शुरू किया, लेकिन बाद में मुख्यतः हिन्दी में ही लिखने लगे थे। कुछ वर्ष वह लखनऊ में 'माधुरी' के सम्पादक रहे, बाद में बनारस से 'हंस' का सम्पादन शुरू किया और यहीं उनकी जीवन-यात्रा का अन्त हुआ।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला अनायास ही उच्चतम शिखर पर जा पहुँचती है। इसका मुख्य कारण था, भारतीय जीवन की असाधारण गतिशीलता, प्रेमचन्द का इस जीवन से घनिष्ठ परिचय और उनकी अनन्य प्रतिभा। आरम्भ में प्रेमचन्द 'सेवा-सदन', 'प्रेमाश्रम' आदि के आदर्शवादी हल सामने रखते थे, लेकिन उनका विचार-दर्शन क्रमशः उग्र होता गया, और 'क़फ़न' और 'गोदान' में हम कठोर, यथार्थवादी दृष्टिकोण पाते हैं।

प्रेमचन्द भारतीय गाँव और किसान को बहुत निकट से जानते थे। इस जीवन के असाधारण चित्र उन्होंने खींचे हैं; यही उनकी सबसे बड़ी सफलता है। भारतीय किसान का सबसे पुष्ट चित्र—होरी—साहित्य की अमर निधि है। प्रेमचन्द की लोकप्रियता के अन्य कारण, चरित्र-चित्रण में सफलता और कथानक की गति पर उनका अनन्य अधिकार थे।

प्रेमचन्द ने द्विवेदी-युग में लिखना शुरू किया, छायावाद युग में विकसित और पल्लवित हुए और सन् '३६ के बाद प्रगतिशील विचारधारा के साथ आगे बढ़े। कथा-साहित्य में इस लम्बे काल को हम प्रेमचन्द का युग कह सकते हैं। वह मानो कथा-साहित्य के तानों-बानों को अपने दृढ़ अनुभवी हाथों में साधे हुए थे, और उनकी मृत्यु के बाद ये बिखर कर अलग-अलग हो जाते हैं।

छायावादी कवियों ने भी कथा-साहित्य को अपनाया। पं० सुमित्रानन्दन पंत ने कुछ कहानियाँ लिखीं, जो 'पाँच कहानियाँ' के नाम से प्रकाशित हुईं। 'प्रसाद' ने दो उपन्यास लिखे, 'कंकाल' और 'तितली'। इन उपन्यासों में 'प्रसाद' ने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया, जो उनके अन्य साहित्य से सर्वथा भिन्न है। 'तितली' प्रौढ़ कला-कृति है, जिसमें सामाजिक तत्व और चरित्र-चित्रण उच्च कोटि के हैं। 'कंकाल' पहले की रचना है;

इसमें घटना-चक्र तेजी से घूमता है और अनेक सामाजिक कुरीतियाँ दिखाई गई हैं।

'निराला' जी ने अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन में अनेक उपन्यास लिखे, जो मुख्यतः दो श्रेणियों में बँट सकते हैं। छायावादी काल की रचनाएँ 'अप्सरा' आदि मूलतः प्रेम-कथाएँ हैं, यद्यपि वे जीवन की विषमताओं से प्रभावित हैं। सन् '३६ के बाद 'निराला' का सभी साहित्य यथार्थवादी भूमि पर निर्मित हुआ है। 'कुल्लीभाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' इस काल की शक्तिशाली रचनाएँ हैं। इनमें जीवन की कठोर, निर्मम वास्तविकता कथा के प्रवाह को सबल बनाती है।

प्रेमचन्द की विरासत को उनके उत्तराधिकारी सम्हाल न सके। उनके निधन के बाद हिन्दी उपन्यास की वेगवती धारा मानो अनेक शाखाओं में फूटकर बँट गई। परिणाम में प्रेमचन्द का परवर्ती उपन्यास-साहित्य काफ़ी है, लेकिन कोई भी उपन्यासकार उनके समकक्ष बैठने का अधिकारी नहीं।

प्रेमचन्द की किसान-परम्परा को तजकर हिन्दी उपन्यास अनेक नई दिशाओं में बढ़ा—तत्व और रूप दोनों ही दृष्टि से। एक धारा निम्न मध्यवर्ग के जीवन, उसकी निराशाओं और असफलताओं को अपनाती है। इसके प्रमुख परिचायक जैनेन्द्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, 'अश्क' आदि हैं। दूसरी धारा व्यक्तिवादी, अहंवादी, नाशवादी दृष्टिकोण को अपनाती है; इसके प्रतिनिधि भगवतीचरण वर्मा, 'अज्ञेय' आदि हैं। एक धारा मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव में कुण्ठित, अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति है; इसके प्रमुख प्रतिनिधि पं० इलाचन्द्र जोशी रहे हैं। एक अन्य धारा भारतीय श्रमजीवी वर्ग की अग्रगामी शक्तियों से सम्बन्ध जोड़ती है और भविष्य की थाती को सँजोती है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि यशपाल, रांगेय राघव, 'पहाड़ी', भगवतशरण उपाध्याय, नागार्जुन आदि हैं।

प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद जैनेन्द्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार मालूम हो रहे थे, लेकिन वे अधिकाधिक आध्यात्मवाद की ओर मुड़ते गए, और अब अनेक वर्षों से साहित्य में विलुप्त हो गए हैं। आज 'प्रश्नोत्तर',

'विचार' आदि के चक्कर में फँसकर सृजनात्मक साहित्य से विरक्त हो गए। आपकी आत्म-अभिव्यक्ति का विशेष रूप गोष्ठी था, जिसमें शिक्षित नवयुवक लोक और परलोक से सम्बन्धित सवाल आपसे पूछते थे, और गोल-मोल शब्दों में आप उनको गोलमोल उत्तर देते थे।

'परख', 'सुनीता', 'त्याग-पत्र', 'कल्याणी' निम्न-मध्य वर्ग के दुःसह जीवन की कहानियाँ हैं, जिनमें 'त्याग-पत्र' सब से सबल है। इन कहानियों की पटभूमि काफ़ी छोटी है; यहाँ आपको प्रेमचन्द के उपन्यासों का भारी, बरसाती नदी सदृश उद्दाम जीवन नहीं मिलता। जीवन के किसी एक लघु अंश को ही प्रेमचन्द के उत्तराधिकारी स्पर्श कर पाते हैं। इस जीवन से त्राण का कोई पथ हो सकता है, इसे मध्यवर्गीय कलाकार नहीं देख पाते हैं; उनके चारों ओर अँधेरी रात का गहन कुहासा हिलोर मारता है, चाहे जितनी आध्यात्म और परलोकवाद की बातें वे करें। जैनेन्द्र के समान सियारामशरण गुप्त ने भी मध्यमवर्ग की 'नारी' का चित्रण किया है, यद्यपि आपके हृदय में सभी के प्रति स्नेह की अगाध, अखण्ड ज्योति है, पर इस हतभागी 'नारी' के दुःसह दुःसाध्य जीवन के प्रति आपके मन में विद्रोह की कोई चिनगारी नहीं जलती।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास की सीमाएँ उत्तरोत्तर संकुचित हो रही थीं। श्री भगवतीचरण वर्मा और 'अज्ञेय' व्यक्तिवादी कलाकार हैं, जो इतिहास की शक्तियों को देखने में असमर्थ हैं, और अपने अहम् को केन्द्र बना कर संसार को देखते हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने तीन उपन्यास लिखे हैं—'चित्रलेखा' 'तीन वर्ष' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'। 'चित्रलेखा' में अनातोले फ्रांस की 'थायस' को आपने आधार बनाया है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लम्बी-लम्बी दार्शनिक बहसें इस कथा की विशेषता हैं। 'तीन वर्ष' में आप सामाजिक संयम और अनुशासन के प्रति विद्रोह का झंडा उठाते हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' आपकी सबसे बड़ी रचना है। इसमें तीन राजनैतिक मार्गों का आप वर्णन करते हैं—गांधीवाद, आतंकवाद और समाजवाद। इन तीनों रास्तों में वर्माजी

अनेक त्रुटियाँ देखते हैं, और अन्त में नकारवाद ही पाठक के पल्ले पड़ता है।

श्री 'अज्ञेय' का 'शेखर : एक जीवनी' हिन्दी में काफ़ी प्रसिद्ध हुआ। इसके दो भाग प्रकाशित हुए हैं। इसे श्री 'अज्ञेय' ने बहुत सँवार कर लिखा है; लेकिन उपन्यास का केन्द्र एक ही पात्र है; अपने ही अन्तर को कुरेद-कुरेद कर कथानक के ताने-बाने वह बुनता है। 'शेखर' का व्यक्तित्व अनाकर्षक है, और इस लम्बे उपन्यास को पढ़कर जीवन में आस्था नहीं बढ़ती। 'शेखर' के चतुर्दिक मानो शून्यता का साम्राज्य है, और यही पाठक को उसकी भेंट है। उनके दूसरे उपन्यास "नदी के द्वीप" का नायक भुवन शेखर की ही पुनरावृत्ति है।

'अज्ञेय' की कला पर मनोविश्लेषण शास्त्र का प्रभाव है। 'शेखर' कुण्ठाओं का प्रतीक है। इस धारा को जोशीजी ने और आगे बढ़ाया। श्री इलाचन्द्र जोशी ने पिछले वर्षों में कई उपन्यास लिखे हैं, 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित'। आप मनुष्य को कुण्ठित वासनाओं का शिकार मानकर चलते हैं। मानसिक ग्रन्थियों को खोलकर ही व्यक्ति और समाज आगे बढ़ सकते हैं, ऐसा आपका दृढ़ विश्वास है। कथा के रूप में इसका इस प्रकार विस्तार होता है—अपनी हीन भावनाओं से प्रेरित होकर नायक अनेक नारियों के चरित्र बिगाड़ता है; उनके जेवर आदि लेकर भागता है। इस शिकार में शिक्षित और अशिक्षित महिलाएँ, चरित्रवती और वेश्याएँ—सभी शामिल हैं। यदि आप आँख मूँदकर राजसी ठाट-बाट, या स्वर्ग और विलास-भोग की कल्पना करें, तो ऐसे संसार में अनायास ही पहुँच सकते हैं। जोशीजी का यह भी विश्वास है कि शिक्षित मध्यमवर्ग ही क्रान्ति का वाहक हो सकता है, सर्वहारा नहीं।

के बीच सामाजिक वर्जनाओं की दीवारें हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त भी कथा-कार ने अनेक सामाजिक कुरीतियों पर आघात किया है।

जब प्रेमचन्द के परवर्ती अनेक उपन्यासकार मध्यवर्ग के जीवन की विषमताओं और असफलताओं का चित्रण कर रहे थे, इस व्यवस्था का अन्त करनेवाला किसान-मजदूर संगठन भी प्रबल हो रहा था। सन् '३६ से साहित्य में यह स्वर शक्तिशाली हो उठा, जब समाजवादी विचारधारा से प्रभावित होकर प्रेमचन्द ने 'गोदान' और 'कफ़न' लिखे और पन्त ने 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या'।

प्रगतिशील उपन्यासकारों में यशपाल सब से महत्वपूर्ण हैं। आपकी रचनाओं में क्रान्ति की धारा रोमान्स से टकराती है। आपका पहला उप-न्यास 'दादा कामरेड' आतंकवादी जीवन से सम्बन्धित है। इस कथा का नायक आतंकवाद से समाजवाद की ओर बढ़ता है। 'देशद्रोही' सन् '४२ की घटनाओं का वर्णन है। 'देशद्रोही' का नायक वजीरिस्तान, रूस आदि घूमता है; अन्त में उग्र राष्ट्रवाद से परास्त होकर वह अपनी जीवन-लीला समाप्त करता है। 'दिव्या' ऐतिहासिक उपन्यास है। प्राचीन इतिहास का विवेचन अनेक कथाकारों ने किया है; जिनमें श्री वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, भगवतीशरण उपाध्याय आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

अपने अन्तिम उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में यशपाल बहुत अधिक मात्रा में रोमान्सवादी हो गए हैं। इस उपन्यास की नायिका 'पहाड़िन' सिनेमा की प्रसिद्ध हीरोइन बन जाती है।

अन्य प्रगतिशील कथाकारों में रांगेय राघव, 'पहाड़ी', 'रहबर', और 'नागार्जुन' का नाम लिया जा सकता है। रांगेय राघव बहुत तेजी से लिख रहे हैं; आपकी प्रतिभा उत्तरोत्तर परिपक्व हुई है, और वैज्ञानिक सामाजिक दृष्टिकोण को आप अधिकाधिक अपनाते जा रहे हैं। 'पहाड़ी' अपने आरम्भिक साहित्यिक जीवन में मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित थे, लेकिन समाजवादी दृष्टिकोण को अब आपने काफ़ी हद तक अपनाया है। 'रहबर' ने रजवाड़ों की प्रजा के शोषण का श्रेष्ठ वर्णन अपने उपन्यास 'धरती की

बेटी' में किया है। 'नागार्जुन' अपने उपन्यास 'बलचनमाँ' में बिहार के किसान-जीवन का अन्तरंग और मर्मस्पर्शी चित्रण करते हैं, और हिन्दी उपन्यास का सम्बन्ध एक बार फिर प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ते हैं। नागार्जुन भारतीय जन-समाज के बहुत निकट हैं; यही उनके उपन्यास की शक्ति का रहस्य है।

उपन्यास में ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक उपन्यास को प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक लेज्ली स्टीफ़ेन (Leslie Stephen) ने 'वर्णसंकर साहित्य' ('literary hybrid') कहा है। न तो वह उपन्यास ही बन पाता है, न इतिहास। इतिहासकार उसे अपने बाँटों से तोलकर हलका पाता है, और आलोचक उसमें श्रेष्ठ साहित्य की गति और लचकीलापन नहीं पाता। कल्पना और इतिहास की खींचातानी में उपन्यास का रूप बिगड़ जाता है। लेज्ली स्टीफ़ेन का उपरोक्त कथन ज्यौर्ज इलियट (George Eliot) के उपन्यास 'रौमोला' (Romola) से सम्बन्धित है। 'रौमोला' का कथानक लड़खड़ाते पैरों से आगे बढ़ता है, उसके अंग-प्रत्यंग इतिहास के बन्धन में जकड़े हैं।

इतनी कठिनाइयाँ होते हुए भी साहित्य का इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, और रहेगा। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में इतिहास के प्रति भारी उपेक्षा दिखायी है। उनके रोमन नागरिक ऐलिजबेथ युग के लंडन-निवासी अंग्रेज हैं। वह 'हैट' पहनते हैं और 'क्लोक' भी। रोम की घड़ियाँ घण्टे बजाती हैं और 'कैपिटल' में सिंह गरजता है। फिर भी शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटकों में एक प्रकार का सत्य अवश्य है। उसने रोम के पतन का सजीव चित्र खींचा है, सीजर और एन्टनी के चरित्र समझने का प्रयत्न किया है। अनेक रचनाओं में उसने इँगलैण्ड का इतिहास भी लिखा है।

विद्वान कहते हैं कि अतीत का इतिहास प्रत्येक युग अपने दृष्टिकोण से लिखता है। यह भी कहा जाता है कि अतीत का इतिहास कभी लिखा ही नहीं जा सकता। इतिहासकार अपने युग का इतिहास लिखता है; यह उसका भ्रम है कि वह अतीत का इतिहास लिख रहा है। स्कॉट ने इतिहास का निरूपण एक दृष्टिकोण से किया, मैकॉले ने दूसरे से, शॉ ने तीसरे से।

स्कॉट की सहानुभूति ह्रासोन्मुख अभिजातवर्ग से थी, वह बीते वैभव पर आँसू बहा रहा था। मैकॉले के अनुसार परमात्मा सदैव ही उदार दल (Whigs) के साथ था। शॉ का सीजर शेक्सपियर के सीजर से सर्वथा भिन्न है, वह शॉ के व्यक्तित्व की ही छाया है।

किन्तु इतिहास का कुछ तात्पर्य अवश्य है। उपरोक्त कथन सर्वथा सत्य नहीं है। हम निरन्तर अतीत का अध्ययन करते हैं, और उससे आगे बढ़ने की प्रेरणा पाते हैं। इतिहास का आलोक किसी महान् दीप स्तम्भ की भाँति वर्तमान और भविष्य को आलोकित करता है।

हिन्दी साहित्य में अब तक अनेक ऐतिहासिक प्रयोग हुए हैं। इनमें 'गढ़ कुंडार', 'प्रसाद' के नाटक और कहानियाँ, प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ और एक नाटक उल्लेखनीय हैं। 'प्रसाद' जी ने इतिहास का गहरा अध्ययन किया था, किन्तु उनके ऐतिहासिक निष्कर्षों से बहुत-कुछ मतभेद हो सकता है। उदाहरण के लिए वह स्कन्दगुप्त को दन्तकथाओं का विक्रम मानते हैं, और कालिदास को उन्हीं की राजसभा का कवि। इस सन्दिग्ध आधार पर निर्मित उनका 'स्कन्दगुप्त' निस्सन्देह एक सफल साहित्यिक कृति है। इसी सन्दिग्ध भूमि पर शेक्सपियर, स्कॉट और ड्यूमा की साहित्यिक प्रतिष्ठा आश्रित है। हिन्दी में राखाल बाबू के दो उपन्यास भी अनुवादित हुए हैं, जिनमें इतिहास की सजीव कल्पना तो है, किन्तु उनका चरित्र-चित्रण साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का नहीं। राखाल बाबू केवल दो प्रकार के चरित्र जानते हैं, अच्छे और बुरे। बीच की भूमि पर उनकी कल्पना नहीं टिकती।

कोई व्याघात न पड़ेगा। ऐतिहासिक चरित्रों के विकास में कलाकार की प्रेरणा कुण्ठित होती है, किन्तु फिर भी ऐसे उपन्यास निरन्तर निकलते हैं जिनमें ऐतिहासिक पात्रों की भरमार रहती है। इसके उदाहरण 'कैलवैरी की सड़क' (The Road to Calvary), 'दिमित्री दान्सक्वा' (Dmitri Donskoi) आदि अनेक कृतियाँ हैं। इतिहास की चुनौती कलाकार निरन्तर स्वीकार करता है; किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। साधारणतया इतिहास का अन्वेषक कलाकार नहीं होता, न कलाकार इतिहास का पंडित। यह संयोग दुर्लभ है, और जब यह होता है तो सोने में सुगन्ध के समान होता है। कहते हैं कि डिकेन्स (Dickens) ने कार्लाइल (Carlyle) से अपनी पुस्तक A Tale of Two Cities लिखने के लिए कुछ किताबें माँगीं। कुछ दिन बाद जब एक गाड़ी भर किताबें उसके दरवाजे पर आ लगीं, तब वह उन्हें देखकर ही घबरा गया।

यशपाल का उपन्यास 'दिव्या' हिन्दी में एक नवीन प्रयोग है। यह इतिहास का मार्क्सवादी दृष्टि से अध्ययन है। यशपाल की दृष्टि केवल अभिजात वर्ग पर ही नहीं लगी, जनता का भी वह चित्रण करते हैं। वर्गों का संघर्ष इस बौद्धकालीन इतिहास में यशपाल ने देखा है। दिव्या के चरित्र में यशपाल भारतीय नारी को अपनी बेड़ियाँ तोड़ने का प्रयत्न करते हुए भी देखते हैं। सम्भव है, यशपाल अतीत के अध्ययन में अपनी विशेष मनःस्थिति से प्रभावित हुए हैं, किन्तु ऐसी भूलों के अतिरिक्त जो पण्डितगण ही पकड़ सकते हैं, 'दिव्या' बौद्धकालीन समाज का सबल और सच्चा चित्र अवश्य है। यह हम जातक कथाओं, प्राचीन साहित्य और साधारण ऐतिहासिक ज्ञान के बल पर अवश्य कह सकते हैं। जो भूल-सुधार अगले संस्करण में हो सकती है, वह हो जानी चाहिए। यानी 'स्पर्ष' आदि का शुद्ध रूप यदि आवश्यक हो, तो अगले संस्करण में ठीक कर दिया जाय। यदि शाकल स्वतन्त्र गण-राज्य न था, तो उसका नाम बदलकर छागल कर दिया जाय, इत्यादि।

हमें स्वयं 'दिव्या' के प्रति कुछ आपत्तियाँ हैं। १—शब्दाडम्बर

२—अभिजात वर्ग की कन्याओं की स्वच्छन्दता, जो इतिहास के प्रतिकूल है; ३—रासनृत्य का वर्णन। किन्तु हम यह अवश्य अनुभव करते हैं कि 'दिव्या' यशपाल की प्रौढ़तम् कृति है। दिव्या, मारिश, पृथुसेन आदि के चित्रण में उन्होंने आशातीत सफलता पायी है, उनकी उपमाओं में उच्च साहित्य का गुण है और उनकी कल्पना और जीवन-दर्शन में स्वच्छता और निर्मलता है। उनके गद्य में, उपरोक्त दोष को छोड़, स्फटिक के समान चमक है। उनका इतिहास का अध्ययन आदर के योग्य है।

अन्त में निवेदन है कि कलाकृति को 'थीसिस' की भाँति जाँचना उचित नहीं। साहित्य का अच्छा विकास तभी हो सकता है जब हमारे आलोचक संयम और धीरता से काम लें। न तो हम आवेश में आकर गोर्की और शोलोखोफ़ की याद करें, और न असन्तुष्ट होकर दूसरे ही दिन अपने लेखकों को धूल में मिलाने लगें।

प्रत्येक इतिहासकार इतिहास का नये सिरे से अध्ययन करता है। इसी प्रकार वह वर्तमान की गति से भविष्य का इङ्गित पाता है। बाहरी वेश-भूषा में यथासम्भव ऐतिहासिक सत्य होना ही चाहिए। यदि बौद्धकाल में पुरुष अँगरखे न पहनते थे, तो उन्हें अँगरखे पहनाना अनुचित है। किन्तु इतिहासकार को इस बाहरी आवरण में छिपे सत्य को खोजना है, उसे समझना है कि आज-तक का इतिहास वर्गसंघर्ष का इतिहास है, अभिजातवर्ग और दासवर्ग का, सामन्तों और भूदासों का, पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का। जब उत्पादन के साधन सामूहिक पूँजी हो जायँगे, तभी सभ्यता के इतिहास की आवृत्ति होगी। बाह्य रूपों का आदर करते हुए कलाकार यशपाल ने इस आधारभूत सत्य को समझा है और उसे साहित्य में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

कविता की आधुनिक धारा

पूँजीवाद एक सामाजिक उत्पादन-प्रणाली है जिसके अन्तर्गत उत्पादन-शक्तियाँ पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित होती हैं। पूँजीवाद ने समाज की उत्पादन-पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया और उत्पादन-शक्तियों को बेतहाशा बढ़ाया। पूँजीवाद अपने अभ्युदय-काल में समाज को सामन्त-प्रथा की शृंखलाओं से मुक्त करता है और नवीन शक्तियों का निर्माण कर नव-जीवन का सन्देश लाता है। पूँजीवाद के उत्थान-काल में पूँजीवाद की संस्कृति में भी नई आशा के प्राण रहते हैं, और इस युग का क्रान्तिकारी कवि उत्फुल्ल होकर कहता है :

"The world's great age begins anew,
The golden years return ;
The earth does like a snake renew,
Her winter weeds outworn."

इसके विपरीत कुछ कवि पुराने समाज का अन्त देख विलाप भी करते हैं और समझते हैं कि स्वर्ण युग सदा के लिए चला गया। इन कवियों में स्कॉट, सदे आदि प्रमुख हैं।

पूँजीवाद की उत्पादन-प्रणाली के अनुरूप ही उसकी संस्कृति की रूप-रेखा तैयार होती है। समाज की उत्पादन-शक्ति बढ़ चुकी है, किन्तु उसका वितरण ठीक नहीं होता; इसी प्रकार एक विशाल जन-संस्कृति के समस्त साधन—छापेखाने, तार, रेडियो, सिनेमा आदि हमारे पास मौजूद हैं, किन्तु इस संस्कृति का उपभोग एक छोटा अवकाश-भोगी वर्ग ही कर पाता है। समाज की आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों के वितरण के अनुसार ही कला की भी अवस्था होती है। पूँजीवाद के क़ायदे-क़ानून, रीति-नीति, संस्कृति-कला सभी पूँजीवाद की छाप लिये हैं।

आज उत्पादन-शक्तियाँ बहुत बढ़ चुकी हैं, लेकिन उत्पादन-व्यवस्था पुरानी पड़ चुकी है; अतएव समाज इस व्यवस्था को छोड़ एक नये युग का आह्वान करेगा। इस क्रान्ति का भी कुछ कलाकार स्वागत करेंगे और कुछ पुराने युग के अन्त पर आँसू बहाते रह जायँगे। इनमें टी० एस० इलियट का नाम उल्लेख हो सकता है, जिसका Waste Land पूँजीवाद का मर्सिया है।

समाजवाद के अन्तर्गत कविता जन-साधारण के निकट आ सकेगी। वितरण के साधन प्रेस, रेडियो, बोलपट तैयार हो ही चुके हैं : शिक्षा आगे चलकर रुचि परिष्कृत करेगी। आज के अनेक 'मौन मिल्टन' भविष्य में बोल उठेंगे। काव्य के प्रति सर्वसाधारण का प्रेम आज भी लोक-गीतों, आल्हा, कीर्तन आदि में व्यक्त होता है। आगे चलकर कविता वर्गहीन मानव की भावनाओं को समस्त समाज तक पहुँचा देगी। इस प्रकार कविता के लिए भविष्य में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा।

हम कह चुके हैं कि समाजवादी कवि आज की परिस्थितियों में केवल कल्पना से नवीन संस्कृति की रूप-रेखा खींच सकता है। इस कारण उसके काव्य में आज वह शक्ति नहीं आ सकती, जो समाजवादी संस्कृति के निर्माण-स्वरूप उसके स्वर में भर जायगी। आज तो उसकी कविता केवल उद्बोधन मात्र हो सकती है :

'रूप रूप बन जाँय भाव स्वर,
चित्र-गीत झंकार मनोहर,
रस, आनँद बन जाँय निखिल,
भावना, कल्पना, वाणी !'

'रुद्ध हृदय के द्वार,
—खोलो फिर इस बार !
मुक्त निखिल मानवता हो
जीवन सौन्दर्य प्रसार,—
खोलो फिर इस वार !
युग युग के जड़ अन्धकार में
बन्दी जन—संसार,
रूढ़ि-पाश में बँधी मनुजता
करती पशु—चीत्कार !—
खोलो फिर इस वार !
निर्मम कर आघात मर्म में,
निष्ठुर तड़ित प्रहार
चूर्ण करो गत संस्कारों को,
ले लो प्राण उबार !—
खोलो फ़िर इस बार !...
अकिंचनता में निज तत्काल,
सिहर उठती,—जीवन है भार !"

इन पंक्तियों में भारतीय मध्यवर्ग की असहायता और निर्बलता स्पष्ट है। यह वर्ग हताश और पराजित है :

"क्या उस-सा ही कोई निराश, कोई उदास
होगा ऐसा विश्रान्त पथिक,
यह जीवन ही बन गया जिसे अविकल प्रवास !"

इस युग को अकसर गद्य का युग कहते हैं। यह भी कहा जाता है कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है, कविता का ह्रास होता है। अंग्रेजी कवि अक्सर शिकायत करते हैं कि आजकल कविता पढ़ने वाले कम हो रहे हैं, कविता की खपत ही नहीं। जीविका के साधन दुशवार हो रहे हैं। कारण स्पष्ट है। पूँजीवादी संस्कृति अपने अन्तिम साँस खींच रही है।

कविता का आज उसके पास कोई मूल्य नहीं। पूँजीवाद के अभ्युदय काल में, जब कवि उसके साथ थे, कविता का आदर हुआ, किन्तु कवि और वैज्ञानिक यदि आज पूँजीवाद को सहारा नहीं दे सकते, तो स्वयं उन्हें पूँजीवाद से क्या सहारा मिल सकता है ?

तो क्या कविता संसार से सदा के लिए उठ गई ? क्योंकि समाजवादी कवि भावनाओं के—प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि के—शत्रु कहे जाते हैं ? यह धारणा ग़लत है। प्रेम और प्रकृति का जीवन में स्थान है और समाजवादी कवि अपनी रचनाओं में अवश्य ही इन विषयों की चर्चा करेंगे। किन्तु कला का समाज से सीधा सम्बन्ध है और जैसे-जैसे मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध समाज-व्यवस्था में परिवर्तन के साथ बदलेंगे, कला नये सम्बन्धों को व्यक्त करेगी। प्रेम और प्राकृतिक सौन्दर्य भी हम नई दृष्टि से देखेंगे और हमारे कवि मनुष्य और प्रकृति के प्रति अपने बदलते भावों को वेग और शक्ति से भर देंगे।

"What are the roots that clutch, what branches grow
Out of this stony rubbish? Son of man,
You cannot say, or guess, for you know only
A heap of broken images, where the sun beats,
And the dead tree gives no shelter, the cricket no relief,
And the dry stone no sound of water."

शैली के जीवन-काल में पूँजीवाद जिस आशा को लेकर आया था, उस का कण-भर भी अब अवशेष नहीं। जो उद्दाम वेग यूरोप की रोमैन्टिक कला में था, उसका नाश क्षय-रोग के कीटाणु कर चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप ने विक्टर ह्यूगो, गेटे, शैली और डिकिन्स की अमर कला को जन्म दिया। किन्तु आज का मरणासन्न युरोपीय पूँजीवाद 'क्यूबिज़्म', 'पोस्ट-इम्प्रेशनिज़्म', 'फ्यूचरिज़्म' आदि के पचड़े में फँसकर स्वस्थ कला का निर्माण नहीं कर पाता। पूँजीवाद की संस्कृति जेम्स जौयस को जन्म देती है; इसके विपरीत रूस की समाजवादी व्यवस्था शौलोख़ॉफ़ और इलिया ऐरनबर्ग को!

भारत में पूँजीवाद का आगमन अंग्रेज़ों के माध्यम से हुआ। अतः भारत की पूँजीवादी संस्कृति में वह बल और वेग न आया, जो हम यूरोप की क्रान्तिकारी पूँजीवादी व्यवस्था में देखते हैं। भारत के नवीन कलाकार सामन्ती संस्कृति की ओर मुड़-मुड़कर देखते हैं, क्योंकि विदेशी पूँजीवाद इस देश में पहले से भी कठोर शृंखलाएँ लेकर आया। भारत की नई चित्रकला, संगीत, नृत्य, कविता, नाटक अतीत की स्मृति में विह्वल और विभोर हैं। नवयुग उनके लिए मुक्ति का कोई सन्देश नहीं लाया। नन्दलाल बोस, उदयशंकर और 'प्रसाद' सभी अतीत के स्वर्ण-स्वप्न देखते हैं।

भारत की सामन्ती संस्कृति का प्रौढ़तम विकास उसके दर्शन, स्थापत्य चित्रकला, संगीत और काव्य में हुआ था। योग और भोग अथवा विरक्ति और आसक्ति दोनों भावनाएँ इस संस्कृति में मौजूद हैं। भक्ति-काव्य और रीति-काव्य में हम इन मनोभावनाओं की क्रीड़ाएँ देख सकते हैं: अभिजात वर्गों का विलास और शासित वर्गों की पलायन-वृत्ति।

किन्तु कोई भी जीती-जागती संस्कृति केवल पुरातन की नकल से संतुष्ट नहीं हो सकती। हमारी कला में आज जीवन की आतुरता है, किन्तु असमर्थ भारतीय पूँजीवाद उसे सहारा नहीं दे सकता।

हिन्दी की आधुनिक कविता में हम यह भावना स्पष्ट देखते हैं। 'भारत-भारती' और 'साकेत' के गुप्तजी, 'कामायनी' और 'स्कन्दगुप्त' के 'प्रसाद', 'परिवर्तन' के पन्त और बौद्धधर्म के प्रति श्रद्धालु श्रीमती महादेवी वर्मा इसी भावना की अभिव्यंजना करते हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त

सुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक हिन्दी कविता के एक प्रमुख स्तम्भ हैं। "निराला' और 'प्रसाद' के साथ उन्होंने हिन्दी कविता को छायावाद की नई प्राण-दीप्ति दी, भाषा को नया शृङ्गार सिखाया, कल्पना और माधुरी उसके प्राण और अंगों में भरी। जब खड़ी बोली के काव्य की धारा छायावाद के प्रभाव से बहकर आगे बढ़ती हुई शब्दों के बालू में फँसने लगी, तब एक बार फिर पन्त ने उसे दिशा और गति दी। इस आधुनिक हिन्दी काव्य के दो प्रधान आन्दोलनों—छायावाद और प्रगतिवाद—से पन्त सम्बन्धित हैं।

पन्त का जन्म हिमालय की गोद में बसी कौसानी में मई १६०० में हुआ। कौसानी के सौन्दर्य का पन्त के काव्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। इन्हीं स्मृतियों को आपने अपने प्रकृति-वर्णन में निरन्तर सँजोकर रखा है। पन्तजी की माँ उनके जन्म के छः घंटे बाद ही परलोकवासी हुईं और उनके पिता और फूफी पर उनके लालन-पालन का भार पड़ा। पन्तजी की पढ़ाई कौसानी की ग्राम-पाठशाला में शुरू हुई। ग्यारह वर्ष की अवस्था में वे गवर्नमेंट हाईस्कूल अलमोड़ा में दाखिल हुए। शहर के वातावरण में पन्त सुखी न हुए, लेकिन नाटक आदि में भाग लेने का अवसर उन्हें यहाँ मिला। जब पन्त सातवें कक्षा में थे, नैपोलियन के एक चित्र से प्रभावित होकर उन्होंने अपने बाल बढ़ाए, और अब बिना इन लम्बे बालों के पन्तजी की कल्पना करना भी कठिन है। कई बार रोग आदि के कारण पन्तजी ने अपने बाल छटवा दिए, किन्तु मानो पन्त का व्यक्तित्व इन बालों से सैमसन के समान सम्बन्धित है।

इसी समय पन्तजी का मन हिन्दी साहित्य की ओर झुका। कोर्स के बाहर की किताबों में लगे रहने के कारण आप मैट्रिक में फ़ेल हो गए। यह

एक नई मिठास और कोमलता भरी, एक नई ही कल्पना, शब्द-विन्यास और भाव-व्यंजना उसे दी। 'वीणा' और 'पल्लव' के पन्त प्रकृति के रूप से मुग्ध हैं, चकित और विस्मित हैं। 'पल्लव' के प्रति पन्त ने लिखा था :

"दिवस का इनमें रजत-प्रसार
उषा का स्वर्ण-सुहाग;
निशा का तुहिन-अश्रु-शृङ्गार,
साँझ का निःस्वन राग,
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुन्दरता की आग।..."

यह नया स्वर पन्त ने हिन्दी काव्य में पहली बार भरा।

पन्त के काव्य में करुणा का भाव विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ। 'आँसू' में पन्त ने लिखा था :

"वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान!"

आगे आप लिखते हैं :

"मेरा पावस-ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले,
मेघों-से मेरे भरे नयन!"

कवि को यह पीड़ा सर्वस्व ही बिखरी दीखती है। 'परिवर्तन' में वह राष्ट्र के प्राणों में यही पीड़ा व्याप्त देखता है :

"रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल;

"सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सब से सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम !"

'युगान्त' में ही पन्त की प्रसिद्ध कविता 'बापू के प्रति' है, जहाँ कवि ने बापू के रूप में विश्व-मानव की अर्चना की है :

"तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त-अस्थि,
निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व-त्याग
है विश्व-भोग का वर साधन।"

'युगान्त' में पन्त ने 'मांसल' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है, मानो छायावाद की अपार्थिवता से उनका मन ऊब उठा हो। 'युगवाणी' कवि के जीवन में क्रान्ति की प्रतीक है। वह मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद को अपना चुका है, कला और साहित्य के पुराने मूल्य वह छोड़ चुका है और समाज के आगे बढ़ने के रास्ते साफ़ कर रहा है। पन्त ने अपने पुराने साहित्य से इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छिन्न करके अपार साहस दिखाया। अरूप और रूप को त्याग कर उन्होंने कुरूप का वरण किया। धरती के प्रति कवि को नया मोह अब हुआ है :

"इस धरती के रोम-रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश
बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा-करकट सब-कुछ भू पर
लगता सार्थक, सुन्दर।"

'ग्राम्या' में जीवन की कुरूपता से कवि का हृदय हाहाकार कर उठा

यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल !!
वृथा रे, ये अरण्य-चीत्कार,
शान्ति, सुख है उस पार !"

'गुंजन' में पन्त दुःख और सुख की समस्या से परेशान हैं, और चाहते हैं कि दुःख और सुख का सहज बटवारा जग में हो जाय। प्रकृति का नशा आपके सिर से उतर रहा था, यद्यपि पूर्ण रूप से वह कभी नहीं उतर सकता। 'गुंजन' में पन्त लिखते हैं :

"मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
चाहता नहीं अविरत-दुख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।
सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।"

हिन्दी काव्य की ये नवीन प्रवृत्तियाँ ही छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुईं। प्रकृति के प्रति यह विस्मय-पुलक भाव, उसके सौन्दर्य के प्रति यह रहस्य की भावना, दुःख और पीड़ा से मोह, दूर कुछ खोजने का भाव, किसी चिर-असीम से मिलन का प्रयास, यही सब छायावाद के अणु-परमाणु हैं। देश की राजनैतिक दासता और कटु सामाजिक यथार्थ के प्रति यह कवि की प्रतिक्रिया है।

'युगान्त' पन्त के काव्य में युग-सन्धि की सूचना है। 'पल्लव' के प्रकृतिवाद और रहस्यवाद से कवि अब मानववाद की ओर उन्मुख हुआ है। एक युग के अन्त और दूसरे के आरम्भ की सूचना यह पुस्तक है। 'मानव' से 'युगान्त' का कवि कहता है :

"सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सब से सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम !"

'युगान्त' में ही पन्त की प्रसिद्ध कविता 'बापू के प्रति' है, जहाँ कवि ने बापू के रूप में विश्व-मानव की अर्चना की है :

"तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त-अस्थि,
निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व-त्याग
है विश्व-भोग का वर साधन।"

'युगान्त' में पन्त ने 'मांसल' शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है, मानो छायावाद की अपार्थिवता से उनका मन ऊब उठा हो। 'युगवाणी' कवि के जीवन में क्रान्ति की प्रतीक है। वह मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद को अपना चुका है, कला और साहित्य के पुराने मूल्य वह छोड़ चुका है और समाज के आगे बढ़ने के रास्ते साफ़ कर रहा है। पन्त ने अपने पुराने साहित्य से इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छिन्न करके अपार साहस दिखाया। अरूप और रूप को त्याग कर उन्होंने कुरूप का वरण किया। धरती के प्रति कवि को नया मोह अब हुआ है :

"इस धरती के रोम-रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश
बन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा-करकट सब-कुछ भू पर
लगता सार्थक, सुन्दर।"

'ग्राम्या' में जीवन की कुरूपता से कवि का हृदय हाहाकार कर उठा

निराला की नवीन गतिविधि

छन्द बन्ध ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता-धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर-सी निःसृत
—सुमित्रानन्दन पन्त

निराला हिन्दी के युगान्तरकारी कवि हैं। सदा ही उन्होंने संगीत, भाषा, भावों और साहित्य के समस्त रूप-प्रकारों में प्रयोग किये हैं। जब वे धूम्र-केतु के समान हिन्दी साहित्याकाश पर उदित हुए, तब से आज तक निरन्तर ही उन्होंने नयी दिशाओं में बढ़ने की क्षमता दिखायी है। आपके काव्य का रथ कभी लीक पर नहीं चलता : उसे कँकरीली-पथरीली, ऊबड़-खाबड़ भूमि पर चलना ही प्रिय है। पन्त और निराला ने हिन्दी काव्य को जो नवीन पथ सुझाया, वह छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुका है। छायावाद हमारे राष्ट्रीय इतिहास के एक विशिष्ट युग से सम्बन्धित है। इसके प्राणों में आकुलता है, करुणा है और वह रूप-राशि खोजने की उत्कण्ठा है जो आज के भारत में दुर्लभ है। छायावाद में भारतीय राष्ट्र के प्राण का स्पन्दन अवश्य है, किन्तु इस काव्य में शक्ति की अपेक्षा माधुरी का आग्रह था, और संघर्ष की अपेक्षा करुणा का। कवि का आदर्श शमा के समान घुल-घुल कर मिट जाना और आँसुओं के समान बहकर विलीन हो जाना था। किन्तु निराला इसके विपरीत विद्रोह और शक्ति के कवि हैं। 'मित्र के प्रति' आप कहते हैं :

"कहते हो, 'नीरस यह बन्द करो गान—
कहाँ छन्द, कहाँ भाव; कहाँ यहाँ प्राण ?

था सर प्राचीन सरस,
सारस-हंसों से हँस;
वारिज-वारिद में बस रहा विवश प्यार;
जल-तरंग ध्वनि; कलकल
बजा तट-मृदंग सदल;
पैंगे भर पवन कुशल गाती मल्लार।'
'सत्य, बन्धु, सत्य, वहाँ नहीं अर्र-बर्र;
नहीं वहाँ भेक, वहाँ नहीं टर्र-टर्र।
एक यहीं आठ पहर
वही पवन हहर-हहर,
तपा तपन, हहर-हहर, सजल कण उड़े;
गये सूख भरे ताल,
हुए रूख हरे शाल,
हाय रे, मयूर-व्याल पूँछ से जुड़े।"

इसी काव्य-क्रम का स्वाभाविक विकास 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' हैं। जो संगीत-माधुरी निराला के छायावादी काव्य में थी, आज वह लगभग विलीन हो चुकी है। कवि ने आज कठोर, क्रूर यथार्थ का वरण किया है। स्वप्नों का शृंगार उसे कभी वांछित नहीं था, किन्तु अब वह कुरूप जीवन का आलिंगन करने से भी नहीं हिचकिचाता। निराला का नया काव्य धरती के अधिक निकट है, यद्यपि कला का शृंगार उसमें अपेक्षाकृत कम है और भाषा उनकी जनता के अधिक समीप है। 'तोड़ती पत्थर' और 'भिखारी' का विकास-क्रम निराला के नये काव्य में है। जो भाव-धारा हम कवि के नये काव्य-रूप में देखते हैं, उसका परिचय हम 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि रचनाओं से भी पाते हैं। सामाजिक अन्याय और अव्यवस्था के प्रति कवि ने व्यंग के अस्त्र को तीखा किया है और उससे वह मर्म पर आघात करता है।

'कुकुरमुत्ता' को निरालाजी ने दीन-हीन शोषित जनता का प्रतीक माना

है; और गुलाब को शोषक अभिजात वर्ग का। इस रूपक में परम्परागत भाषा, संगीत, उपमाएँ, शब्द-चित्र, रस आदि सब विलीन हो गये हैं और एक नयी कला का जन्म हुआ है। यह कला कुकुरमुत्ता के ही समान बंजर धरती की उपज है; उसमें रूप, गन्ध, रस आदि की कमी है; वह भावों को सुकुमारता से नहीं गुदगुदाती; वह पाठक को सोचने के लिए विवश करती है। कुकुरमुत्ता के समान उसकी एक सामाजिक उपादेयता है।

निरालाजी के चित्रों में अतिरंजना है, किन्तु मात्र-रूप की उपेक्षा है और वास्तविकता के प्रति आग्रह है। कुकुरमुत्ता गुलाब से कहता है :

'अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत गर पाई ख़ुशबू, रंगोआब,
ख़ून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट,
कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा-घाम...'

नये विषय और भावों के अनुरूप ही कवि के काव्य का काया-कल्प हुआ है। उसकी नयी उपमाएँ और नए शब्द-चित्र मन को आकृष्ट नहीं करते; वे पाठक को चौंका देते हैं। उनमें विनोद है, चुटकी है, किन्तु सौन्दर्य नहीं। 'खजोहरा' में कवि ने गाँव का चित्र नयी ही दृष्टि से खींचा है; इस चित्र में जैसे शूल-सा कुछ मन में कसकता है :

'कच्चे घर, ऊबड़-खाबड़, गन्दे
गलियारे, वन्द पड़े कुल धन्धे।
लोग बैठे छोड़ते हैं जम्हाई,
चलती है ठंढी-ठंढी पुरवाई।
निराई जा चुकी है ख़रीफ़, नहीं
करने को रहा कोई काम कहीं।
बारिश से बढ़ती ज्वार, बाजरा, उर्द,
गाँव हरे-भरे सब, कलाँ और ख़ुर्द।

रोज़ लोग रात को आल्हा गाते
ढोलक पर, अपना जी बहलाते।
झूलती झूले, गाती हैं सावन
औरतें—"नहीं आये मनभावन।"
मारते पैंगे लड़के बढ़-चढ़कर,
घहरा रहा है भरा हुआ अम्बर।'

'खजोहरा' की उपमाएँ सौन्दर्यवादियों को शायद ही पसन्द आवें। कवि का हास इन रचनाओं में फूटकर बहा है।

इन नयी कविताओं में कवि की दृष्टि सर्व-भेदिनी और सर्व-उपहासिनी बनी है। सभी रंगे सियारों का उसने मज़ाक बनाया है। 'मास्को डायलाग्ज़' में एक नक़ली सोशलिस्ट का खाका कवि ने खींचा है :

"मेरे नये मित्र हैं श्रीयुत गिडवानी जी
बहुत बड़े सोश्यलिस्ट,
'मास्को डायलाग्ज़' लेकर आये हैं मिलने।
बोले, 'यह देखिए, मास्को डायलाग्ज़ है,
श्री सुभाषचन्द्र ने जेल में मँगायी थी,
भेंट की फिर मुझे जब थे पहाड़ पर।
'३५ तक मुश्किल से पिछड़े इस देश में,
दो प्रतियाँ आई थीं'
फिर बोले, 'वक्त नहीं मिलता,
बड़े भाई साहब का बँगला बन रहा है,
देखभाल करता हूँ।'
फिर कहा, 'मेरे समाज में
बड़े-बड़े आदमी हैं,
एक से हैं एक मूर्ख;
फाँसना है उन्हें मुझे;
ऐसे कोई साला एक धेला नहीं देने का।

उपन्यास लिखा है,
ज़रा देख लीजिए।
अगर कहीं छप जाय
तो प्रभाव पड़ जाय उल्लू के पट्ठों पर;
मनमाना रुपया फिर ले लूँ इन लोगों से।
खोल दूँ प्रेस एक नये किसी बँगले में,
आप भी वहीं चलें,
चैन की बंसी बजे।'
देखा उपन्यास मैंने,
श्रीगणेश में मिला—
'पृय असनेहमयी श्यामा मुझे प्रैम है।'
फिर उसे रख दिया,
देखा मास्को डायलाग्ज़
देखा गिडवानी को।''

'नये पत्ते' में कवि ने अनेक राजनीतिक कविताएँ लिखी हैं। उसकी पैनी एवं मर्मवेधी दृष्टि, राजनीतिक दलों की चालों के पीछे क्या तथ्य है, यह अच्छी तरह पहचान लेती है। वह सामाजिक न्याय और ग़रीबी के अन्त की माँग करता है :

"धूहों और गुफाओं और पत्थरों के घरों में
आजकल के शहरों तक, दुनिया ने चोली बदली।
बिजली और तार और भाप और वायुयान
उसके वाहन हुए।
जान खींची खानों से
कल और कारख़ानों से।
रामराज के पहले के दिन आये।
बानिज के राज ने लक्ष्मी को हर लिया।
टापू में ले चलकर रखा और क़ैद किया।

एक का डंका बजा,
बहुतों की आँखें झपीं।
लहलही धरती पर रेगिस्तान जैसा तपा।
जोत में जल छिपा,
धोखा छिपा, छल छिपा।
बदले दिमाग़ बढ़े,
गोल बाँधे, घेरे डाले,
अपना मतलब गाँठा,
फिर आँखें फेर लीं।
जाल भी ऐसा चला
कि थोड़ों के पेट में बहुतों को आना पड़ा।"

सन् '४६ में जो देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन उठा और ख़ून की होली हुई, उसके प्रति कवि अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है। इस कविता के नायक सन् '४६ के विद्यार्थी हैं :

"युवक जनों की है जान, ख़ून की होली जो खेली।
पाया है लोगों में मान, ख़ून की होली जो खेली।
रंग गये जैसे पलाश, कुसुम किंशुक के सुहाये,
कोक-नद के पाये प्राण; ख़ून की होली जो खेली।
निकले क्या कोंपल लाल, फाग की आग लगी है,
फागुन की टेढ़ी तान, ख़ून की होली जो खेली।"

जिस प्रकार नक़ली सोशलिस्टों को निरालाजी ने आड़े हाथों लिया है, उसी प्रकार नक़ली नेताओं को भी। एक राष्ट्रीय नेता का व्यंग-चित्र देखिये :

"आजकल पण्डितजी देश में विराजते हैं।
माताजी को स्वीज़रलैंड के अस्पताल,
तपेदिक़ के इलाज के लिए छोड़ा है।
बड़े भारी नेता हैं।

कुइरीपुर गाँव में व्याख्यान देने को
आये हैं मोटर पर
लन्डन के ग्रैज्युएट,
एम. ए. और बैरिस्टर,
बड़े बाप के बेटे,
बीसियों भी पर्तों के अन्दर, खुले हुए।
एक-एक पर्त बड़े-बड़े विलायती लोग।
देश की बड़ी-बड़ी थातियाँ लिये हुए।
राजों के बाज़ू पकड़, बाप की वकालत से;
कुर्सी रखनेवाले अनुल्लंघ्य विद्या से;
देशी जनों के बीच;
लेंडी ज़मींदारों को आँखों तले रक्खे हुए;
मिलों के मुनाफ़े-खानेवालों के अभिन्न मित्र;
देश के किसानों, मज़दूरों के भी अपने सगे
विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए।
गले का चढ़ाव बोझ आंज़ी का नहीं गया।
धाक, रूस के बल से ढीली भी, जमी हुई;
आँख पर वही पानी;
स्वर पर वही सँवार।"

'मँहगू मँहगा रहा' शीर्षक कविता से यह पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। मँहगू और लुकुआ भी अब समझने लगे हैं कि यह नेता उनके अपने हितू नहीं हैं।

"मँहगू सुनता रहा।
झम्पू को लादता है लकड़ी, कोयला, चपड़ा।
लुकुआ ने मँहगू से पूछा, 'क्यों हो मँहगू, कुछ
अपनी तो राय दो?
आजकल, कहते हैं, ये भी अपने नहीं?'

मँहगू ने कहा, 'हाँ कम्पू में किरिया के
गोली जो लगी थी,
उसका कारण पंडितजी का शागिर्द है;
रामदास को काँग्रेसमैन बतानेवाला,
जो मिल का मालिक है।
यहाँ भी वह ज़मींदार, बाज़ू से लगा ही है।
कहते हैं, इनके रुपये से ये चलते हैं,
कभी-कभी लाखों पर हाथ साफ़ करते हैं।"

'बेला' में कवि ने उर्दू कविता के छन्दो का प्रयोग किया है। इस संग्रह में एक बार फिर कवि का छायावादी संगीत उमड़ा है, किन्तु उसके भावो में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुका है। जिस गति से इन पिछले तीन-चार वर्षों में निराला ने लिखा है, वह हिन्दी साहित्यकारों की आँखें खोल देता है। यह भी शिकायत हुई है कि निराला की रचनाएँ असम हैं, उनमें कुछ ही अच्छी हैं। इसी प्रकार के कृतज्ञता-विहीन आलोचकों ने छायावादी निराला की निन्दा की थी। 'बेला' की सभी कविताएँ काव्य-कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, किन्तु 'बेला' मे कवि के अनेक प्रशंसनीय प्रयोग हैं। उदाहरण के लिये यह गीत पढ़िये :

"रूप की धारा के उस पार
कभी धँसने भी दोगे मुझे ?
विश्व की श्यामल स्नेह सँवार
हँसी हँसने भी दोगे मुझे ?
वैर यह ! बाधाओं से अन्ध !
प्रगति में दुर्गति का प्रतिबन्ध !
मधुर उर से उर जैसे गन्ध
कभी बसने भी दोगे मुझे ?"

'बेला' की कविताओ से अनुमान होता है कि शायद भविष्य में निराला जी छायावाद के संगीत और कुकुरमुत्ता के यथार्थवाद का समन्वय करें और

इस प्रकार एक बार फिर हिन्दी काव्य को नवीन गति और दिशा दें। इसके चिह्न 'बेला' में स्पष्ट हैं। इस संग्रह के अनेक गीतों में मधुर संगीत के साथ-साथ जीवन की अकथ व्यथा भरी है :

"प्रति जन को करो सफल।
जीर्ण हुए जो यौवन,
जीवन से भरो सकल।
रँगे गगन, अन्तराल,
मनुजोचित उठे भाल,
छल का छुट जाय जाल
देश मनाये मंगल।"

'बेला' में अनेक तरह के प्रयोग हैं। एक राष्ट्रीय कजली है :

"काले-काले बादल छाये; न आये वीर जवाहरलाल।
कैसे-कैसे नाग मँडलाये, न आये वीर जवाहरलाल।"

'बेला' में यथार्थवादी कविताएँ हैं, ग़ज़लें हैं, समर के गीत हैं। इनको पढ़कर यह स्पष्ट होता है कि निराला एक प्रयोगवादी कवि हैं और रहेंगे। जब तक उनका पाठक उनकी एक काव्य-शैली ग्रहण कर पाता है, वह दो-तीन नयी शैलियाँ गढ़कर उसको चकित कर देते हैं। ऐसा कवि अपने जीवन-दर्शन में कभी रूढ़िवादी नहीं हो सकता। इन नवीनतम प्रयोगों के बीच से भी कवि की क्रान्तिकारी वाणी आज सवेग उठ रही है :

"विजयी तुम्हारे दिशा-मुक्ति से प्राण।
मौन में सुघरतर फूटे अमर मान।
ताप से तरुण आकाश घहरा गया,
घनों में घुमड़कर भरा फिर स्वर नया।"

प्रेमचन्द की परम्परा

प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक असाधारण घटना थे। जब हिन्दी उपन्यास अपने शैशव काल में ही था, प्रेमचन्द ने लिखना शुरू किया, और उसे अत्यन्त प्रौढ़ अवस्था में छोड़ा। प्रेमचन्द में असाधारण प्रतिभा अवश्य थी, किन्तु अपने युग की अग्रगामी शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करके ही प्रेमचन्द अपनी प्रतिभा को पराकाष्ठा तक पहुँचा सके। आज हम देख सकते हैं कि प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार किस तरह प्रतिगामी विचारधाराओं से नाता जोड़कर अपनी प्रेरणा के स्रोत सुखा रहे हैं।

प्रेमचन्द हमारे सभी सामाजिक आन्दोलनों में आगे थे। उन्होंने साम्राज्य-विरोधी संघर्षों में आगे बढ़कर भाग लिया; वे श्रमजीवी और किसान-वर्ग के बड़े प्रबल समर्थक थे और इस शोषण-व्यवस्था का अन्त करना चाहते थे। आज जब बड़े पूँजीपतियों और सामन्तों को जनता के शोषण की स्वाधीनता मिली है, और भारत का असंख्य जन-समुदाय अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रहा है, हम यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि भारत के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन आवश्यक है।

प्रेमचन्द भारतीय जनता के अत्यन्त निकट थे। वे निम्न-मध्य वर्ग के प्राणी थे और निरन्तर उन्होंने यह प्रयत्न किया कि नीचे के वर्गों से वे अपना सम्बन्ध दृढ़ करें। ऊँचे तबक़ों की तरफ़ जाने का मोह प्रेमचन्द के हृदय में बिलकुल न था। भारतीय जनता का अन्तरंग परिचय ही प्रेमचन्द की सृजन-शक्ति का वास्तविक रहस्य है। जब अन्य लेखक स्वयं अपने तक ही अपना परिचय सीमाबद्ध करते हैं, अथवा मनुष्य को तजकर अज्ञात को अपनाते हैं, तो वे अपनी सृजन-शक्ति का स्वेच्छा से ही संहार करते हैं।

प्रेमचन्द ने इस दिशा में हमारे लिए एक अनुकरणीय उदाहरण पेश

किया। प्रेमचन्द ने भारतीय जन-समाज का विस्तृत वर्णन किया है, परन्तु विशेष रूप से वे ग्राम-समाज का चित्र खींचने में पटु थे। भारत के गाँव हमारी नब्बे फ़ीसदी वास्तविकता हैं। इस अपरिवर्तनशील ९० प्रतिशत भारत के भूमि-सम्बन्धों में क्रान्ति आज की मुख्य राजनीतिक और आर्थिक समस्या है। इसी ग्रामीण भारत को प्रेमचन्द ने अपनी सर्वस्व प्रेरणा और सृजन-शक्ति अर्पित की।

जो अनन्य उद्दाम जीवन प्रेमचन्द की रचनाओं में हिलोर मार रहा है, वह भारतीय किसान से इसी घनिष्ठ सम्बन्ध का फल है। जबकि हिन्दी के अन्य उपन्यासकार कठिनाई से एक चरित्र की सृष्टि कर पाते हैं, प्रेमचन्द जीवन-भार से आकुल असंख्य पात्रों की सृष्टि करते चले जाते थे। मानो उनकी कथाओं में जीवन का यह वेग, उसकी शक्ति समाए न समाती हो, और निरन्तर छलक जाती हो।

इसीलिए आज के कलाकार, जो अपनी कला को बहुत सँवारकर बनाते और सजाते हैं, प्रेमचन्द की बहती नदी के समान वेगशाली इस कला को नहीं समझ पाते, और बड़ी कृपा करके उनके सम्बन्ध में दो-चार शब्द कभी-कभी कह देते हैं। ऐसे भी अहंकारी व्यक्ति हैं, जो प्रेमचन्द से अपने को बड़ा समझते हैं और अखबारों में यह सब लिखने में भी नहीं सकुचाते! लेकिन मेंढक चाहे जितना फूलकर बड़ा होना चाहे, रहता मेंढक ही है।

जैसा हिलोर मारता जीवन हम प्रेमचन्द की रचनाओं में पाते हैं, वैसा ही कुछ अँग्रेजी उपन्यासकार डिकिन्स की रचनाओं में भी था। इसीलिए यद्यपि आज के अनेक उपन्यासकारों में डिकिन्स की अपेक्षा शिल्प कहीं अधिक है, वे अपने को डिकिन्स से महान् समझने और कहने की महत्वाकांक्षा नहीं करते। उनके साहित्य का लम्बा इतिहास उन्हें अधिक सच्ची दृष्टि देता है, और वे समझते हैं कि शिल्प से आप अपनी रचना केवल निखार सकते हैं, शिल्प जीवन-अनुभव की गहराई का स्थान नहीं ले सकता।

प्रेमचन्द की कला जीवन की पर्याय है। उनके उपन्यास मानो साहित्य की सृष्टि न होकर जीवन की सृष्टि हैं। उनके उपन्यासों में उष्ण, माँस-रक्त

का जीवन है, और इसीलिए उनकी रचनाएँ पाठक के हृदय को मथ डालती हैं, उसे भारत के वेदना-भरे जीवन के सम्पर्क में लाकर विचलित करती हैं, उसकी संवेदना के द्वार हिला देती हैं।

भारतीय सामाजिक और आर्थिक जीवन के किन पहलुओं पर प्रेमचन्द ने प्रकाश डाला है, क्षण-भर इस पर हम विचार करें। आज भी वह सामाजिक और आर्थिक ढाँचा, जिस पर प्रेमचन्द आजीवन निर्मम प्रहार करते रहे, यथास्थान क़ायम है। और यद्यपि बाहरी दिखावा कुछ बदला है, तल में सभी कुछ अपरिवर्तित है।

प्रेमचन्द के साहित्य का मुख्य गुण उसका साम्राज्य-विरोधी तत्व है। प्रेमचन्द उन कलाकारों में न थे, जो आकाश के स्वप्न देखते रहे, यद्यपि उनके पैरों के तले से पृथ्वी खिसक रही हो। साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ़ प्रेमचन्द ने सदैव ही विद्रोह का झण्डा बुलन्द रखा, अपने जीवन और साहित्य दोनों में ही। सन् '३० के आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने जो कहानियाँ लिखीं, वह 'समर-यात्रा' के नाम से अलग संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त उनके उपन्यासों और कहानियों में निरन्तर साम्राज्य-विरोधी भावना प्रतिध्वनित है।

साम्राज्यवादी शोषण आज अपना रूप बदल रहा है। सीधे राजनीतिक शासन के स्थान पर वह परोक्ष प्रभाव स्थापित करता है। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े पूँजीपतियों के साथ साम्राज्यवाद साझे में कारबार चलाता है, ताकि अँग्रेजी मोटरें, कैमिकल्स आदि हिन्दुस्तानी मुहर लग कर यहाँ के बाजारों में बिक सकें। यही कॉमनवेल्थ में रहने का रहस्य है। ब्रिटिश पूँजी भारत में सुरक्षित है और उसके राष्ट्रीकरण का कोई प्रश्न नहीं उठता। एशिया में जो विद्रोह की भीषण अग्नि धधक रही थी, उसे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इस तरह दबाने का प्रयत्न किया। यदि वे स्वयं शासकों के रूप में जनता के सामने रहते, तो उनके त्राण की कोई आशा न थी। हिन्द-एशिया और हिन्द-चीन का इधर का इतिहास भी वह स्पष्ट करता है।

न केवल इंगलैण्ड और भारत के बीच साम्राज्यवादी सम्बन्धों में कोई

बुनियादी परिवर्तन हुआ है, किन्तु भारत में भूमि के सम्बन्धों की जो विशेष समस्या है, वह भी ज्यों-की-त्यों क़ायम है। एशिया के देशों में भूमि के जो सामन्ती सम्बन्ध सदियों से चले आ रहे हैं, उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन अब रुक नहीं सकता। जब तक किसान भूमि पर कब्ज़ा नहीं करता, तब तक अकाल, बेकारी और महामारी का यहाँ बोलबाला रहेगा। आज का शासक-वर्ग इन जरा-जीर्ण सामन्ती सम्बन्धों को ज्यों-का-त्यों बनाए रखना चाहता है। रजवाड़ों में बड़े-बड़े सामन्तों को नया जीवन मिल गया है; और छोटे-बड़े ज़मींदारों को दस साल का मुआवज़ा देकर जिलाने का व्यर्थ प्रयत्न किया जा रहा है।

प्रेमचन्द ने अपनी लौह-लेखनी से इसी सामन्ती व्यवस्था पर निरन्तर कठोर प्रहार किया। भारतीय किसान के क्रूर, निर्मम शोषण के उन्होंने असंख्य करुण चित्र खींचे। किसी प्रकार ज़मींदार, कारिन्दे, साहूकार, बनिए और पंडित जौंक की तरह भारतीय किसान, होरी, का खून चूसकर मोटे हो रहे हैं, इसका मर्मस्पर्शी वर्णन हम प्रेमचन्द के साहित्य में पाते हैं।

आज यह संघर्ष और तीखा हो गया है। देश के अनेक हिस्सों में किसान भूमि पर कब्ज़ा कर रहा है, और क्रूर शासक-वर्ग बर्बर साधनों से इस क्रान्ति को कुचलना चाहता है। प्रेमचन्द की विरासत भारतीय लेखकों से इन संघर्षों के चित्रण की माँग करती है। आज प्रेमचन्द की परम्परा को वही लेखक आगे बढ़ा रहे हैं, जो इस कठोर वर्ग-संघर्ष में शोषित-वर्ग के साथ हैं, और आध्यात्म, कला आदि की दुहाई देकर उसे भ्रम में डालने की कोशिश नहीं करते।

प्रेमचन्द गांधीवादी सिद्धान्तों को लेकर साहित्य में उतरे थे, किन्तु अपने जीवन के उत्तर काल में वह अच्छी तरह से समझ गए थे कि भारतीय जनता को क्रान्ति का मार्ग अपनाना है, और शोषक वर्ग से कोई भी समझौता असम्भव है। 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' की 'गोदान' और 'क़फ़न' से तुलना करके हम भली भाँति यह देख सकते हैं।

प्रेमचन्द का साहित्य हमें साम्प्रदायिक सम्बन्धों के प्रश्न पर अनन्य

प्रेरणा देता है। प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे कि साम्राज्यवाद जनता की एकता में दरार डाल कर ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर सकता है। प्रतिक्रियावाद की यह पुरानी चाल है। सन् '२० के आन्दोलन के बाद से ही साम्राज्यवादियों ने हिन्दू-मुस्लिम दंगे हमारे देश में भड़काने शुरू किये थे। बँटवारे के बाद इन दंगों ने भीषण रूप धारण किया, और साम्प्रदायिकता आज काँग्रेस पर भी हावी है। दोनों राज्यों में वैर की आग भड़काकर साम्राज्यवाद अपना प्रभुत्व दृढ़तर कर सकता है। काश्मीर की समस्या यह और भी स्पष्ट कर देती है। डिक्सन का प्रस्ताव था कि काश्मीर पर सीधा यू० एन० ओ०, अर्थात् ऐंग्लो-अमरीकी सेनाओं का शासन स्थापित किया जाय।

साम्प्रदायिकता आज भारत में प्रतिगामी शक्तियों का अमोघ अस्त्र है। इसके विरुद्ध जनता की दृढ़ एकता ही एक जवाब हो सकता है। जनता की एकता प्रगतिशील साहित्य का मूल मंत्र होना चाहिए। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में साम्प्रदायिकता को कभी प्रश्रय नहीं दिया। जब राष्ट्रीय और जनवादी भावना क्षीण होती है, तभी साम्प्रदायिक भावना किसी लेखक पर हावी हो सकती है।

प्रेमचन्द की परम्परा से हम प्रगतिशील लेखक यही सीखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक मनोवृत्ति को साहित्य में न जमने दें, क्योंकि मूलतः वह प्रतिक्रियावादी, फ़ासिस्टी मनोवृत्ति है। जितनी ही इस मनोवृत्ति की जड़ मजबूत होती है, उतनी ही जनता सिद्धान्त रूप से निरस्त्र होती है, और जमींदारों और पूँजीपतियों का शिकार बनती है।

साम्प्रदायिकता का भयावह रूप भाषा के रूप में भी प्रकट होता है। हम संस्कृत-बोझिल भाषा पसन्द करते हैं, जो जनता के लिए अग्राह्य है। हम अन्य भाषाओं के विकास में भी बाधक बनते हैं, और उन्हें बराबरी का स्थान देना तो दूर रहा, "सभी प्रान्तों मे हिन्दी शिक्षा का माध्यम हो", "राजभाषा का पद ले", यह माँग उठने लगती है। साम्प्रदायिकता के इस रूप से अपनी रक्षा करने मे हम अत्यन्त असमर्थ रहते हैं, क्योंकि इस प्रश्न को हमने स्पष्ट रूप से कभी समझने का प्रयत्न ही नहीं किया।

प्रेमचन्द की भाषा हमारे लिए एक अमूल्य उदाहरण पेश करती है।
प्रेमचन्द की भाषा जनता और जीवन के निकट है, और यही उसकी शक्ति
का रहस्य है। प्रेमचन्द जनता के लेखक थे और उसके समीप रहते थे।
हिन्दी का और कोई आधुनिक लेखक जनता के इतना निकट न था। जो
लेखक जितना ही जनता से दूर है, उसकी भाषा भी उतनी ही क्लिष्ट और
संस्कृत से आक्रान्त है। जो भाषा जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, वह
विकसित होती है और बढ़ती है। जो जितनी दूर हटती है, उतनी ही ह्रास
के निकट पहुँचती है—भाषा-शास्त्र हमें यही सिखाता है।

प्रेमचन्द की भाषा जनता की अखण्ड एकता की प्रतीक है। वह अपनी
शब्दावली जीवन से लेते हैं, कोष से नहीं। उनकी प्रेरणा का स्रोत भारत
का शोषित-वर्ग है, सामन्ती-वर्ग और उसके पंडे नहीं।

प्रेमचन्द की परम्परा आज भी हमारे लिए बहुत माने रखती है, क्योंकि
जिस संघर्ष के साथ वह अपने सम्पूर्ण जीवन-पर्यन्त चले थे, उसका अभी
अन्त नहीं हुआ है। साम्राज्यवाद और सामन्तवाद को हमारे देश में नया
जीवन मिल गया है। इनके आर्थिक शोषण से मुक्ति पाना अत्यन्त आवश्यक
हो गया है। इस संघर्ष में प्रेमचन्द की परम्परा हमारे लिए एक विराट दीप-
स्तम्भ की भाँति है; क्रान्ति के पथ पर आगे बढ़ती जनता का पथ प्रकाश की
यह किरणें निरन्तर आलोकित करती रहेंगी। इसी परम्परा को आगे बढ़ाने
का भार नई पीढ़ी के लेखकों के कन्धों पर है। जब प्रेमचन्द की परम्परा का
अनुसरण करते हुए हम जनता के निकट पहुँच सकेंगे, तभी हमारे साहित्य
में बल आयेगा, और तभी हम अपने सामाजिक दायित्व को भी निभा सकेंगे।

रेखाचित्र

रेखाचित्र हिन्दी साहित्य में एक नया कला-रूप है, जिसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय एक हद तक इन पंक्तियों के लेखक को भी मिल सकता है। आधुनिक जीवन की नवीन प्रेरणाओं और निजी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए साहित्यकार नए-नए माध्यम अपनाता है। वास्तव में परम्परागत कला-रूपों का सहारा लेते हुए भी प्रत्येक कवि और कलाकार अपने व्यक्तित्व की कुछ विशेषता अपने कला-माध्यम को अर्पण करता है, जिसके कारण उस माध्यम का रूप बदलता है और विकसित होता है। शेक्सपियर के नाटक ग्रीस के नाटकों से सर्वथा भिन्न हैं, इसी प्रकार होमर का काव्य टी० एस० इलियट के काव्य से। नये युगों में कलाकार की अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति के नए साधन और रूप सदा ही खोजती है।

कविता और नाटक साहित्य के प्राथमिक रूप हैं। इनमें भी कविता अपेक्षाकृत प्राचीन है। अपनी पुस्तक भ्रम और वास्तविकता (Illusion and Reality) में कॉडवेल कहते हैं कि आदिम युग में कविता सभी ज्ञान का माध्यम थी। लेखन के आविष्कार से पहले पद्यबद्ध रचना आसानी से कण्ठस्थ हो सकती थी। लेखन कला के आविष्कार के बाद ज्ञान और विज्ञान अनेक शाखाओं में बँट गये, और कविता अपने विशिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ सकी। आधुनिक युग में कविता गीति-काव्य का रूप धारण करती है, और महाकाव्य का उद्देश्य आधुनिक साहित्य में उपन्यास के माध्यम से पूरा होता है। प्रसिद्ध आलोचक राल्फ़ फ़ॉक्स उपन्यास को 'पूँजीवादी युग का महाकाव्य' कहते हैं।

आज भी कलाकार पुराने कला-रूपों से सन्तुष्ट नहीं हो पाता, और निरन्तर इनमें परिवर्तन और विकास का प्रयत्न किया करता है। उसका

व्यक्तित्व और सतत परिवर्तनशील उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि अपनी अभिव्यक्ति के उपयुक्त नये माध्यम और रूप सदा खोजते हैं। टी० एस० इलियट एक प्रकार के काव्य की रचना करते हैं, और मायाकोवस्की दूसरे ढंग के काव्य की।

ऐसी ही परिस्थितियों में रेखाचित्र, रिपोर्ताज, एकांकी, स्केच और मुक्त-काव्य आदि का जन्म होता है। रेखाचित्र और स्केच, कहानी और निबन्ध के बीच की भूमि पर निर्मित होते हैं। न वे कहानी हैं, न निबन्ध, किन्तु थोड़े से हेर-फेर से वे कहानी या निबन्ध की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। कला के साधनों का कोई चिर-स्थिर रूप नहीं हो सकता; वे सदा ही गतिशील और परिवर्तनशील होते हैं।

अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध कथाकार गाल्जवर्दी की रचनाओं में हम कहानी और स्केच आदि के अनेक रूप देखते हैं। उनकी Portrait नाम की कहानी में कोई गति अथवा कथानक नहीं के बराबर है, केवल एक प्रौढ़ पुष्ट चरित्र की रेखाएँ हैं। और Spindleberries नाम की अति सुन्दर कहानी में कथानक और गति नाममात्र को ही हैं।

हम कह सकते हैं कि कहानी की तुलना में स्केच अधिक यथार्थ चित्रण है, इसमें यथार्थ की भूमि पर कल्पना का भवन कम-से-कम बनता है। बहुत अधीरता से ही और यथार्थ से द्रवित होकर लेखक ऐसे स्केच बनाता है। वह जलते लावा की भाँति अपनी भावनाओं को ज्यों-का-त्यों, बिना कल्पना का अधिक सहारा लिये अपने लेखन में उँडेलता है। ऐसे स्केच हमें डिकिन्स और बालजाक में भी मिलते हैं। डिकिन्स ने अपना साहित्यिक जीवन ऐसे स्केचों से ही शुरू किया था। उनके Sketches by Boz में औद्योगिक क्रान्ति के युग के अनेक भीषण, वीभत्स चित्र हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुस्थिति से प्रभावित होकर लेखक यथार्थ-चित्रण स्केचों और रेखाचित्रों में करता है। भारी सामाजिक उथल-पुथल के काल में ही लेखक ऐसे माध्यम को अपनाता है। वह अपनी बात सीधे और तेजी से कहना चाहता है। वह अपने अनुभव पर कोई मुलम्मा

चढ़ाने में असमर्थ होता है। तीर के समान वह अपने लक्ष्य को बेधना चाहता है। क्रान्तिकारी युगों में ही ऐसे साहित्य की रचना सम्भव है। उसके हृदय की गति तीव्र हो जाती है, और वह अपने भावों को शब्दों के साँचों में ढालने के लिए अधीर हो उठता है। सृजन-शक्ति ज्वर के समान उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को जकड़ लेती है, और इसे उतार फेंकने के लिए वह उतावला हो जाता है।

एक प्रकार से सभी सृजन का यह रहस्य है, किन्तु हम देखते हैं कि आधुनिक साहित्य के अनेक नए रूप इन्हीं क्रान्तिकारी हलचलों के बीच प्रकट हुए हैं। स्केच, डायरी के पन्ने, पत्र, रिपोर्ताज आदि के जन्म का यही इतिहास हम पायेंगे। स्केच और रेखाचित्र यथार्थ के अनुभव का कम-से-कम शृंगार करते हैं। इसी तरह रिपोर्ताज तीव्र भावना में रँगी साहित्यिक रिपोर्ट के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं। संघर्ष की खन्दकों में निर्मित यह कला-रूप है। इन्हें वड्सवर्थ की काव्य-भावनाओं के समान शान्ति के क्षणों में लिपिबद्ध करने के लिए छोड़ देने का अवसर नहीं। अभी हाल में कोरिया के युद्ध में जब अमरीका के पहले सैनिक, प्राइवेट सैडरिक की मृत्यु हुई थी, उर्दू के श्रेष्ठ कलाकार, कृष्णचन्द्र ने अंगारों के समान जलते शब्दों में उसकी स्मृति में एक पत्र लिखा था जिसे भारत और विदेशों के अनेक पत्रों ने उद्धृत किया। अपनी आग्नेय भावनाओं के कारण ही कृष्णचन्द्र तत्काल घटनाओं के आधार पर इतने उत्कृष्ट साहित्य की रचना कर सकते हैं।

मैंने लगभग सन् १९३६ से ही स्केच और रेखाचित्र नियमित रूप से लिखे हैं। यह युग भारतीय इतिहास मे क्रान्तिकारी हलचलों का युग है। पहले-पहल छात्रावस्था में मैंने अंग्रेजी में कुछ स्केच लिखे थे, जिनमें से कुछ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी मेगजीन में छपे भी थे। इसके पूर्व मैंने कुछ कहानियाँ लिखी थीं, जो 'हिन्दी मनोरञ्जन' में कौशिक जी की कृपा से सन् १९२६-२७ में छपी थीं। इन दिनों मैं काशी विश्वविद्यालय में इन्टरमीडियेट में पढ़ता था। बी० ए० में पहुँचकर मुझे अनुभव हुआ कि कहानी मेरी

जर्मन साम्राज्यवादियों ने फ़ासिज़्म को पाला-पोसा था, जिसने मनुष्य और मनुष्य के बीच भयानक घृणा का प्रचार किया, महानसंहार का यज्ञ रचा और मानवी संस्कृति के भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर आघात किया था। हमारे देश में प्रतिक्रियावाद ने ऐसा ही भीषण नरमेध रचा और अल्पमतों की भाषा और संस्कृति के प्रति घृणा और विद्वेष की भावना उत्पन्न की। इस महासंहार की भूमिका-स्वरूप गांधी और नेहरू को आँग-सान के मार्ग पर भेजने की उन्होंने तैयारी की। इस नीति के विरुद्ध भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी चेतावनी आवश्यक है। जिन सामन्ती और पूँजीवादी शक्तियों ने भारतीय फ़ासिस्टवाद को पाला-पोसा, वही हिन्दी के प्रचार के लिए भी बड़ी-बड़ी थैलियाँ आज भेंट कर रही हैं। यह सोचने की बात है कि हिन्दी के संघर्ष-युग में यह लम्बे-लम्बे मुँह वाली थैलियाँ कहाँ थीं, और आज महन्त और सेठ हिन्दी के भक्त अनायास ही कैसे बन गए। हिन्दी को अपनी प्रगतिशील परम्परा पोषित करने के लिए फिर तुलसी, सूर और कबीर का मार्ग ग्रहण करना होगा, और सेठों और महन्तों का मार्ग छोड़ना पड़ेगा।

भारतीय संस्कृति की भावी जनवादी एकता के निर्माण के लिए हम सोवियट से शिक्षा ग्रहण करेंगे। उस एकता के रहस्य पर कोल्बनोशी (Kol banoshi) ने अपनी पुस्तिका समाजवादी आचार Communist Morality में इस प्रकार प्रकाश डाला है, "सोवियत देशभक्ति एक बड़ी नैतिक शक्ति है, इसीलिए वह राष्ट्रीय कठमुल्लेपन के प्रतिकूल है और इसी लिए सोवियत संघ की जातियों की राष्ट्रीय परम्पराएँ उन के विशिष्ट सामूहिक हितों के साथ आसानी से मेल खाती हैं। सोवियत आचार किसी दूसरे राष्ट्र के मनुष्यों के प्रति विद्वेष के किसी भी इज़हार को इस आचार का पूर्ण खंडन समझता है।"

हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों को इन मूल जनवादी स्थापनाओं को याद रखने की आज बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि जैसा जिहाद ज़ारशाही ने एशिया की मुस्लिम जातियों के प्रति बोल रक्खा था और हिटलर ने जर्मन

यहूदियों के खिलाफ़ बोला था, वैसा ही कुछ आज हम भारत के दोनों राज्यों में देख रहे हैं। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में असहिष्णुता के इस विष को घुसने से न रोका गया, तो कला और साहित्य की प्रगति में भयानक अव-रोध पड़ जाने की आशंका है।

भाग २

'इत्यलम्'

आज कला के दो रूप हमारे सामने आ रहे हैं। पहली तो अभिजात वर्ग की कला है, जो अपने रूप के शृङ्गार में निरन्तर तल्लीन है, निरन्तर सँवार में लगी है, किन्तु जो दिन-प्रतिदिन जन-जीवन से दूर हटती जा रही है। रूप का मोह भी अन्ततः कला को खण्ड-खण्ड कर देता है, यहाँ तक कि इस कला को समझने वाला मात्र एक कलाकार ही रह जाता है, या अधिक-से-अधिक उसके इर्द-गिर्द मँडराने वाला एक संकुचित गुट।

अभिजात वर्ग की कला की अन्तिम परिणिति दुर्बोधता में होती है। पश्चिम में इसके उदाहरण जेम्स जॉयस, इलियट और ऐज़रा पाउण्ड हैं। इसी दुर्बोधता की ओर हिन्दी के आत्मवादी लेखक भी जा रहे हैं। उनकी कला के शृङ्गार की चरम सीमा दुर्बोधता है, क्योंकि वे जनता को घृणा और उपेक्षा से देखते हैं। उनकी कला का ध्येय विचारों और भावों का आदान-प्रदान न होकर आत्माभिव्यक्ति है। वे 'यायावर' हैं, उनकी रचनाओं के नाम 'इत्यलम्' और 'मिट्टी की ईहा' होते हैं, जिन्हें समझने के लिए आप को कोष साथ बाँधकर चलना चाहिए।

इस भाषा के औचित्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'बंगाल में यह काफ़ी प्रचलित है!' इस तरह आप 'पत्र' न भेज कर 'पत्रक' भेजते हैं; 'प्रीति-सम्मिलिनी' में जाते हैं!

इसी कला का उद्घाटन 'प्रतीकवाद' और 'प्रयोगवाद' के रूप में एक लम्बे अरसे से हिन्दी में हो रहा है। 'अज्ञेय' इस विचार-धारा के केन्द्र-बिन्दु हैं। इस केन्द्र के इर्द-गिर्द समय-समय पर अनेक नए कवि और कलाकार खिंचते हैं, किन्तु थोथे आत्मवाद और प्रयोगवाद से उनको सन्तोष नहीं होता, और वे अधिक सामाजिक विचार-धाराओं से सम्बद्ध होते जाते हैं।

त्रिशंकु

इस पुस्तक के छपने की बहुत दिनों से प्रतीक्षा थी। 'अज्ञेय' की प्रखर बुद्धि, उनकी गम्भीरता और अध्ययनशीलता का सिक्का हिन्दी संसार पर अच्छी तरह जम चुका था। वे हिन्दी के इने-गिने प्रतिष्ठित कलाकारों और विचारकों में से गिने जाते हैं। उनकी आलोचना-बुद्धि पैनी और अच्छी धातु की है। अनेक वर्षों तक 'संघर्षकालीन साहित्य' को इस विवेचना की प्रतीक्षा करके अब असन्तोष हो रहा है। 'त्रिशंकु' विविध सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं पर लिखे कुछ निबन्धों का संग्रह है। जब हम 'अज्ञेय' के विचारों की परीक्षा करते हैं, तब उनकी रूढ़िबद्धता और संकीर्णता हमें आश्चर्य में डालती है।

'अज्ञेय' पुराणपंथियों और प्रगतिवादियों के बीच एक तंग टेढ़ी-मेढ़ी राह पर चलने के प्रयत्न में लीन, मानसिक 'कलाबाजियाँ' करते रहे हैं। टी० एस० इलियट के विचारों से आप काफ़ी प्रभावित हुए हैं। उसका पथ अनुसरण करते हुए आपका भी विश्वास है कि

"Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality."

यानी, 'कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से मुक्ति है; वह व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है।'

इस भाव-धारा को 'अज्ञेय' ने 'परिस्थिति और साहित्यकार' शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट करने की चेष्टा की है। हिन्दी के कलाकार अनेक कुण्ठाओं के शिकार हैं। इन मनःस्थितियों से बचने का प्रयास ही उनकी सृजन-प्रेरणा का मूल स्रोत है। इस सम्बन्ध में वे प्रेमचन्द, जैनेन्द्रकुमार, महादेवी वर्मा, भगवती चरण, 'बच्चन' आदि के उदाहरण पेश करते हैं।

मनोविश्लेषण की यह पद्धति अपना कर 'अज्ञेय' जनवादी विचार-धारा के विरोध में खड़े होते हैं। आप यह प्रश्न नहीं उठाते कि क्यों हमारे कलाकार इन विकृतियों के शिकार हैं, और किस प्रकार समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन उनके मानसिक स्वास्थ्य में सहायक होगा। वास्तव में आप इस प्रकार का ज्ञान आलोचक के लिए तो आवश्यक समझते हैं, किन्तु कलाकार के लिए नहीं। कलाकार तो कस्तूरी-मृग के समान अपने भावोन्माद से विकल-विवश होकर लिखता है। वह अपनी अनुभूतियों से पराजित है। उसका विवेक अनुभूतियों को निर्मल धाराओं में नहीं ले जा सकता। आपका कहना है कि साहित्य में गति-मात्र है, प्रगति अथवा प्रतिगति नहीं। "आज जो प्रगति है, कल वही प्रतिगति भी हो सकती है।"

यह विचारधारा स्वभावतः आपको रूढ़िवादी बना देती है। आप यन्त्र-युग से असन्तुष्ट होकर लिखते हैं : "मशीन-युग हमारे जीवन को सस्ता, घटिया और अर्थहीन बना रहा है।" आप मशीन से असन्तोष प्रकट करते हैं; मशीन के पीछे जो सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था मानव के अनन्त अवकाश को विफल बना रही है, और बेकारी की विभीषिका में परिणत कर रही है, उस ओर आप अपने निबन्ध 'संस्कृति और परिस्थिति' में दृष्टिपात नहीं करते।

कला की परिभाषा 'अज्ञेय' इस प्रकार करते हैं : "कला सामाजिक अनुपयोगिता को अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्त के विरुद्ध विद्रोह—है।" आगे चलकर आप इस परिभाषा का विस्तार करते हैं : "हमारे कल्पित कमजोर प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर, अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है—उसे एक नयी उपयोगिता सिखायी है—सौन्दर्य-बोध! पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा, पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी, फिर चाहे वह रेखाओं द्वारा प्रकट हुआ हो, चाहे वाणी द्वारा, चाहे ताल द्वारा, चाहे मिट्टी के लोंदों द्वारा।"

इसी सनातन और ध्रुव सत्य को 'अज्ञेय' आधुनिक साहित्यकारों की कृतियों में भी खोजते हैं। आपके अनुसार आज के अनेक लेखक कला को अपनी हीनता अथवा असम्पूर्णता की क्षतिपूर्ति का साधन बनाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'त्रिशंकु' आलोचना-शास्त्र में कोई नवीन, मौलिक अथवा क्रान्तिकारी स्थापनाएँ नहीं करता। जिन लीकों पर वह चला है, वह काफ़ी पिट भी चुकी हैं। उसकी शैली, विचारों के जाल को बुनने की कला आकर्षक हो सकती है।

आज का कलाकार त्रिशंकु के समान अधर में लटका हुआ है। उसके लिए न देवताओं के स्वर्ग में स्थान है, न पृथ्वी पर। समाज की सृजनात्मक और प्रेरक शक्तियों से कट कर वह अलग हो गया है, और अभिजात वर्ग भी उसका स्वागत करने को तैयार नहीं है। इस विडम्बना का अन्त प्रगतिशील शक्तियों का साथ देकर साहित्यकार कर सकता है। आज के ह्रासोन्मुख समाज का अन्त करके ही त्रिशंकु का कलाकार स्वर्ग के द्वार खोल सकता है। इसके लिए आवश्यक यह है कि अधर में उल्टे लटके रहने की बजाय वह ठोस पृथ्वी पर खड़ा हो। इसी तरह वह सामाजिक क्रान्ति का पक्ष मजबूत कर सकता है। इन विचारों का 'त्रिशंकु' विरोध ही करता है, और अपना नाम सार्थक करता है।

नये पत्ते

इधर 'निराला' जी की कई पुस्तकें निकली हैं। एक उपन्यास 'चोटी की पकड़', एक गीतों का संग्रह 'बेला' और 'नये पत्ते'। इन पुस्तकों में 'निराला' की विद्युत् समान प्रतिभा की निरन्तर झलक है। 'चोटी की पकड़' सामन्ती क्षय का सबल चित्र है। बंगाल के नवाबों की भाग्य-लक्ष्मी जब चंचल हो रही थी, उस युग का सजीव वर्णन 'निराला' अपने इस रोचक उपन्यास में करते हैं। 'बेला' में कवि के नये गीत संगृहीत हैं। इन गीतों की मधुर ताल-लय पाठक के मन को सावन-भादों की पुरवाई के समान शीतल करती है। 'नये पत्ते' की रचनाएँ कवि के विद्रोही रूप की नयी रेखाएँ हैं। इस संग्रह की कविताएँ 'कुकुरमुत्ता' के क्रम का विस्तार और विकास हैं।

'नये पत्ते' की कुछ रचनाएँ पुरानी हैं, जैसे 'खजोहरा', 'गर्म पकौड़ी', 'रानी और कानी'। अन्य कविताओं में इसी उग्र विद्रोह रूप की अभिव्यक्ति है। 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में कवि यथार्थवाद की ओर मुड़ा है। उसने अपना स्वप्न-नीड़ छिन्न-भिन्न कर दिया है। छायावाद से उसका सम्बन्ध-विच्छेद लगभग पूरा हो चुका है। व्यंग के तीखे अस्त्र से वह समाज के मर्म पर आघात कर रहा है। इस नयी कला के अनुरूप ही उसकी भाषा, संगीत-लहरी और उपमाओं ने भी चोला बदला है। उसकी भाषा अटपटी और मुहावरेदार है, संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली से अलंकृत नहीं। उसकी उपमाएँ चुभनेवाली और आहत करनेवाली हैं। उसकी कला बरबस मन को पकड़ती है, आकृष्ट नहीं करती। अरूप को त्यागकर विरूप का उसने वरण किया है।

उनकी एक मामूली-सी कविता में भी उनकी नयी कला के अणु-परमाणु मिलते हैं :

"कुत्ता भौंकने लगा
आज ठंडक अधिक है।
बाहर ओले पड़ चुके हैं,
एक हफ़्ते पहले पाला पड़ा था—
अरहर कुल-की-कुल मर चुकी थी,
हवा हाड़ तक बेध जाती है,
गेहूँ के पेड़ ऐंठे खड़े हैं,
खेतिहरों में जान नहीं,
मन मारे दरवाज़े कौड़े ताप रहे हैं
एक-दूसरे से गिरे गले बातें करते हुए
कुहरा छाया हुआ।
ऊपर से हवाबाज़ उड़ गया।
ज़मींदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
आया और लोगों की ओर देखकर कहा,
'डेरे पर थानेदार आये हैं;
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
एक हफ़्ते के अन्दर देना है।
चलो, बात दे आओ।'
कौड़े से कुछ हट कर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था,
चलते सिपाही को देखकर खड़ा हुआ,
और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देख-देख कर।"

ग्राम-जीवन के इस करुण और यथार्थ चित्रण में कवि ने ठेठ भाषा का प्रयोग किया है। इस प्रकार का वर्णन प्रेमचन्द के अलावा हिन्दी का कोई अन्य कलाकार नहीं कर सका। बैसवाड़े के किसान ने 'निराला' जी का

घनिष्ट और अन्तरंग परिचय है। इस रचना में कुत्ते का भौंकना अत्यन्त करुणाजनक और मर्मस्पर्शी है।

'नये पत्ते' में 'निराला' जी ने अनेक राजनीतिक कविताएँ भी लिखी हैं यह रचनाएँ प्रमाण हैं कि 'निराला' का अभिमानी मस्तक शासन-व्यवस्था अथवा सामाजिक अन्याय के आगे कभी न झुकेगा। उनका तरुण हृदय कभी जराजीर्ण न होगा।

'नये पत्ते' में 'देवी सरस्वती' के समान भी कविताएँ हैं, जो भारतीय संस्कृति पर विहंगम दृष्टि डालती हैं और कवि की छायावादी परम्परा का हमें स्मरण दिलाती हैं :

"तुम वर्षा हो,
हार बलाकाओं की पाँतें;
वन की शाखा की
पत्तों से टपकी आँखें;
उतरायीं सरिताएँ
मोर तटों पर नाचें;
गुंजित-अलि-कलि-गन्ध छोर
अवनी के आँचे......।"

इस शैली की रचनाएँ 'बेला' में अधिक हैं। 'नये पत्ते' में कवि ने यथार्थवाद को निर्ममता से अपनाया है और निरन्तर सामाजिक अन्याय और क्रूरता पर चोट की है। 'खजोहरा' के शब्द-चित्र देखिए :

"दौड़ते हैं बादल ये काले काले,
हाईकोर्ट के वकले मतवाले।
जहाँ चाहिए वहाँ नहीं बरसे
धान सूखे देखकर नहीं तरसे।
जहाँ पानी भरा वहाँ टूट पड़े,
क़हक़हे लगाते हुए टूट पड़े।

फिर भी यह बस्ती है मोद पर
नातिन जैसे नानी की गोद पर;
नाम है हिलगी, बनी है सूचुम्बी
जैसे लौकी की लम्बी तुम्बी...।"

यह कला एक साहित्यिक परम्परा के अन्त और दूसरी के आरम्भ की सूचना है।

बया का घोंसला

'पहाड़ी' हिन्दी के सुपरिचित कहानीकार हैं। आपने कहानी-कला में अनेक नये प्रयोग किये हैं। कथानक के पुराने साँचे आपने तोड़े हैं, चरित्र-चित्रण नयी मनोविश्लेषण पद्धति से किया है। आपके वाक्य टूटे, विश्रृंखल और असम्बद्ध होते है—असीम, अनिश्चित जीवन के ही समान। 'पहाड़ी' कठोर यथार्थवादी हैं। उनकी चेतना ने जीवन का तल-स्पर्श किया है; इन कहानियों को पढ़कर पाठक अनुभव करता है कि इस दुनिया के पीछे छिपी हुई एक और भी दुनिया है, जहाँ मनुष्य पशुओं अथवा कीड़ों के समान रहते हैं और मरते हैं।

'धुँधली रेखाएँ' मे 'पहाड़ी' ने एक निम्न मध्य-कुल का चित्र खींचा है। युद्ध और मँहगाई के कारण इनका सफ़ेदपोशी का रहा-सहा ढोंग भी खत्म हो चुका है—"केशव देख रहा था कि माँ में कोई खास उत्साह नहीं है। बच्चों को पाकर भी खुशी नहीं है। चेहरे पर विषाद की भारी छाप है। लगता था कि कमरे के किसी कोने से कोई चुपके सुभा रहा हो—यह मध्यवर्गीय परिवार का अवशेष है। पिछले महायुद्ध में वे भारी तूफ़ान में फँसकर कच्चे पड़ गये थे। बहुत जीर्ण और अस्वस्थ थे। इस महायुद्ध की चोटों को सहने की सामर्थ्य न रहने पर टूट रहे हैं। परिवार की दीवारें सड़ गयी हैं। झूठी प्रतिष्ठा की चमक ओझल हो रही है। सामन्तवादी युग का प्लास्टर सीलन पड़ जाने के कारण झड़ गया है। दादा-परदादाओं द्वारा स्थापित भारी-भारी शहतीरों पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। बड़े-बड़े परिवारों का साम्राज्य तितर-बितर होकर अलग-अलग छितरा गया है। यह वैसे ही एक बड़े परिवार का अंग है—पति-पत्नी और दो बच्चे। यह परिवार अपनी धरती से बड़ी दूर, नौकरी करता हुआ, जीवित रहने की ओर सचेष्ट है।..."

'पतझड़' में 'पहाड़ी' ने बंगाल के अकाल का भयानक, वीभत्स चित्र खींचा है। किस प्रकार युद्ध और बढ़ती कीमतों के कारण मौत का बाज़ार गर्म हो रहा था, देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था टूट रही थी, इसकी विस्तृत व्याख्या इस कहानी में मिलती है। कहानी की नायिका अपने पत्र में लिखती है, "यह मेरी अपनी ही कहानी नहीं है। मैं तो उन लाखों में एक हूँ, जो इस तूफ़ान में फँस गये। मेरे हृदय की भावना, केवल मेरी अपनी ही नहीं है। यह उन लाखों का स्वर है, जो प्रतिदिन संघर्ष कर रहे हैं। इसमें कहीं दुर्बलता मिले, तो माफ़ कर देना मुझे। तूफ़ान में उड़ता हुआ तिनका नहीं जानता कि उसकी गति क्या है? वह इधर-उधर नहीं देख पाता है। उसकी अपनी कोई गति भी नहीं होती है। मैं वैसी ही एक सूखी पत्ती हूँ, जिसमें प्राण नहीं हैं। आज अपने बलवान् परिवार से अपने को अलग पाती हूँ। मेरी आकांक्षाएँ इस शक्तिशाली वर्तमान ने मिटा डाली हैं। मैं नष्ट हो गयी हूँ..."

'स्वर्ण धूलि'

'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' पन्त के काव्य में एक नई दिशा की खोज हैं। जीवन के त्रस्त क्षणों की व्याकुलता जो 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में व्यक्त हुई थी, अब योग और वेदान्त की शान्ति में परिणत हो गई है। कवि अपने मानस पर 'स्वर्ण-किरण' और स्वर्ण-धूलि' की वर्षा अनुभव करता है और ब्रह्मानन्द उसके रोम-रोम को मानो भर देता है। पन्त के नए काव्य में जीवन के सौन्दर्य और सुख की पुकार है, जिसे वही सुन सकता है जिसने जग की व्यथा और पीड़ा से मुक्ति पा ली है। 'मानसी' का आरम्भ कवि इस प्रकार करता है:

"'पिक' गाओ!
नव जीवन के चरण वन
तव प्रणय-कथा बरसाओ।
पिक गाओ।
प्रीति मुक्त हो बने न बन्धन,
विरह मिलन देवें आलिंगन,
हो प्रतीति-मन नर नारी जन,
दिशि-दिशि ज्वाल जलाओ!
आज वसन्त विचरना भू पर,
नव पल्लव के पंख खोलकर,
नवल चेतना की स्वर्णिम रज,
गन्ध समीर, उठाओ।..."

कवि इस जग को माया का खेल समझता है। मन इस जग-रूपी छाया

का दर्पण है, जिसमें निरन्तर जीवन के चित्र-विचित्रित दृश्य झलमलाते रहते हैं :

"यह मेरा दर्पण चिर मोहित,
जीवन के गोपन रहस्य सब,
इसमें ऐसे शब्द तरंगित।
कितने स्वर्गिक स्वप्न शिखर,
माया की प्रिय घाटियाँ मनोरम,
इनमें जगते इन्द्र धनुष-से,
कितने रंगों के प्रकाश तम।..."

जीवन-मंथन से मोक्ष पाकर साधक कवि का हृदय चिदानन्द से विभोर हो उठता है, वह अशोक और वीतराग बन जाता है :

"यह वह नव लोक
जहाँ भरा रे अशोक,
स्वप्न चिदालोक।...
शोभा के नव पल्लव,
झरता नभ से मधुरव,
शाश्वत का पा अनुभव,
मिटता उर शोक,
स्वर्ग शान्ति ओक"

काम, क्रोध, मद से त्रासित हैं,
आवें वे, आवें वे प्रभु के द्वार।"

कवि के प्रशान्त मानस तक पीड़ित-वर्ग की पुकार पहुँचती है, किन्तु उसके पास इस व्याधि का एक ही उपचार है—सभी जातियों, वर्गों और राष्ट्रों से प्रेम की अपील। ईसा, बुद्ध और गांधी के पथ पर वह चलता है, और प्रेम, न्याय और एकता की कामना मनुष्य मात्र से करता है :

"जीवन के बन्धन खुल जाएँ,
मनुजों के तन-मन चल जाएँ,
जन आदर्शों पर तुल जाएँ,
खिले धरा पर जीवन शतदल,
कूक उठे फिर कोयल।......"

इस काव्य को हम इच्छा-पूर्ति का काव्य ही कह सकते हैं, क्योंकि कवि द्वन्द्व और संघर्ष से विकल होकर अपने-आप में सिमट जाता है, और प्रेम, शान्ति आदि का मन्त्र पाठ कर कल्पना करता है कि जग में प्रेम और शान्ति का साम्राज्य आ गया। उदाहरण के लिए '१५ अगस्त' शीर्षक कविता में पन्तजी लिखते हैं :

"सभ्य हुआ अब विश्व, सभ्य धरणी का जीवन,
आज खुले भारत के सँग भू के जड़ बन्धन!
शान्त हुआ अब युग-युग का भौतिक संघर्षण,
मुक्त चेतना भारत की यह करती घोषण!"

जबकि यह स्पष्ट है कि 'युग-युग के भौतिक संघर्ष' का अभी कहीं अन्त नहीं हुआ, और न विश्व सभ्य हुआ है, न भारत। यह एक 'यूटोपिया' कवि ने अपनी कल्पना में रचा है। १५ अगस्त के बाद भारत में साम्प्रदायिक बर्बरता की बाढ़ आई, जिसका आदि पंजाब का हत्याकाण्ड था, और अन्त गांधी का प्राण-दान लेकर भी नजर नहीं आता। भौतिक संघर्ष भी पीढ़ियों पर्यन्त चलेगा! सोवियत के नेता तक अभी उसका अन्त नहीं देख रहे।

'स्वर्ण-धूलि' में अनेक वैदिक ऋचाओं का रूपान्तर भी कवि ने किया

है। हिन्दी काव्य में ऋचाओं का अवतरण अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि प्रकृति की वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि शक्तियों को कवि ने जो स्वरूप दिया है, उसके सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। इन ऋचाओं में एक शक्ति, बल और प्रवाह है, जो हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर आदिम समाज का अनुभव कराता है।

'मानसी' नारी के इतिहास का रूपक है। यह गीत 'ग्राम्या' की नारी-सम्बन्धी रचनाओं से सर्वदा भिन्न है। कवि ने नारी को उसकी सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अलग कर दन्तकथाओं की सीता, राधा आदि के रूप में देखा है। अन्त में वह आधुनिका का असन्तोषमय चित्र खींच कर भविष्य का आह्वान करता है।

"मनुष्यता रही पुकार
छोड़ देह-मोह-भार,
खोल रुद्ध हृदय द्वार, द्वेष छोड़ दो बिसार।
भाल के कलंक पंक को मनुष्य हे हरो।
महान क्रान्ति आज हो,
अखंड राम राज हो,
अभीष्ट लोक आज हो, सुसभ्य जन-समाज हो।
उठो मनुष्य श्रेय, धैर्य, शौर्य वीर्य को वरो।"

'निराला'

'निराला' पर अपनी परिचयात्मक और आलोचनात्मक पुस्तक लिखकर डा० रामविलास शर्मा ने हिन्दी साहित्य में एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। यद्यपि छायावाद हिन्दी के आधुनिक काव्य की एक प्रमुख धारा है, इसके प्रवर्तकों और प्रवृत्तियों पर अभी बहुत ही कम लिखा गया है। रामविलास शर्मा 'निराला' जी पर इस प्रकार की पुस्तक लिखने के विशेष अधिकारी हैं, क्योंकि आपने कवि के व्यक्तित्व और उसकी कृति का बहुत निकट से और गम्भीर अध्ययन किया है। जिस भूमि में 'निराला' की प्रतिभा पली और पुष्ट हुई, उसी में आलोचक की प्रेरणा भी जाग्रत हुई। बैसवाड़े का वर्णन अपने काव्य में भी रामविलास ने बड़ी मार्मिकता से किया है। प्रस्तुत पुस्तक में आप लिखते हैं:—

"अवध का यह भाग बैस ठाकुरों की बस्ती के कारण बैसवाड़ा कहलाता है। ताल, छोटी नदियाँ और नाले, घनी अमराइयाँ यहाँ की शोभा हैं। इसे हम अवध का हृदय कह सकते हैं। अवधी का सबसे मधुर रूप यहाँ बोला जाता है। इस भाषा में ओज और कोमलता दोनों का ही विचित्र सम्मिश्रण है। यहाँ के किसान, परिश्रमी ताल्लुकदार, सरकारी पिट्ठू, छोटे जमींदार कमर टूटने पर भी निरंकुशता की परम्परा को निबाहते जाने वाले, विप्र वर्ग दम्भी और निम्न जातियाँ बहुत ही सताई हुई हैं।"

इस वातावरण में 'निराला' की प्रतिभा पोषित हुई थी। उनके काव्य और कथा-साहित्य में इसी प्रकृति और समाज के चित्र हमें मिलते हैं। आलोचक ने बहुत समीप से कवि के जीवन का अध्ययन किया है, अतएव बंगाल, रवि ठाकुर और स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव का सही मूल्यांकन आप अपनी पुस्तिका में कर सके हैं। कवि के विराट, उदार और विद्रोही

व्यक्तित्व की छाया भी हम इस अध्ययन में पग-पग पर पाते हैं।

नवीन हिन्दी साहित्य को 'निराला' ने क्या दिया, इसका पुस्तक में पूरा विवरण है, किन्तु बहुत बिखरा हुआ। इसी प्रकार छायावाद की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन एक परिच्छेद में न होकर कई जगह बँट गया है। 'सांस्कृतिक जागरण और परिमल', 'रीतिकालीन परम्परा और छायावाद' आदि अध्यायों में यह आवश्यक ब्यौरा बँट गया है। 'विराट की उपासना' शीर्षक निबन्ध में हमें आधुनिक साहित्य की वह सामाजिक भूमि दिखाई पड़ती है, जिसकी एक विस्तृत व्याख्या पुस्तक के आरम्भ में ही अपेक्षित है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के सामाजिक और आर्थिक तल को आलोचक ने अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया है, 'निराला' के व्यक्तित्व और उनके काव्य पर उसने अपना पूरा ध्यान केन्द्रित किया है। यह उचित है, किन्तु जब तक आज का प्रगतिशील आलोचक कला और कवि की सामाजिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की गहरी परीक्षा नहीं करता, तब तक वह पाठक को भी ठीक निर्णय पर नहीं पहुँचा सकता। किस सामाजिक व्यवस्था ने 'निराला' को इस प्रकार दर-दर भटकाया और उसके चरित्र में इतना तनाव उत्पन्न कर दिया? कौन सी मुनाफ़ाखोरी उसकी पुस्तकों का सब फल हड़प लेती है और उसे भूखा मारती है? ऐसे प्रश्नों का और भी स्पष्ट उत्तर आज 'निराला' का पाठक चाहता है। आलोचक ने इन प्रश्नों को निरन्तर अपनी दृष्टि में रखा है किन्तु उसकी आलोचना 'निराला' के साहित्य पर रचनाक्रम के अनुसार एक अविराम टिप्पणी अथवा 'रनिंग कमेन्ट्री' (Running Commentary) अधिक है, और 'निराला' के साहित्य और उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का गुथा हुआ अध्ययन अपेक्षाकृत कम। जहाँ 'निराला' की अन्तिम रचनाओं तक आलोचक की टिप्पणी पहुँचती है, वहीं पुस्तक अनायास समाप्त हो जाती है।

पुस्तक के बहुत पुष्ट अंग हैं, 'बैसवाड़े का जीवन' 'निराला का आकर्षक व्यक्तित्व', 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' आदि की परीक्षा, और 'कथा साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ', शीर्षक अध्ययन।

कुल मिलाकर पुस्तक हमें 'निराला' के व्यक्तित्व और साहित्य का अन्यतम परिचय देती है। ग्रन्थकर्ता ने बड़ी निष्पक्षता और ईमानदारी से अपना कर्तव्य निबाहा है। 'निराला' जी से घनिष्ट परिचय होने के कारण वह विशेष सतर्क रहा है कि अपनी समीक्षा में कहीं आलोचक की तटस्थता न छोड़े बैठे। उसने 'निराला' के साहित्य की सहानुभूति से परीक्षा की है और जिस दृष्टिकोण से उसे देखना चाहिये, वह पाठक को सुझाया है। 'निराला' के छायावादी प्रशंसक इस पुस्तक से पग-पग पर असहमत होंगे, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके सामने से भी बहुत-सा झाड़-झंखाड़ वह हटा देगी।

घरौंदे

श्री रांगेय राघव हिन्दी साहित्य में धूम्रकेतु की गति से उदय हुए हैं। कुछ वर्षों के अन्दर ही आपके अनेक उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ और रिपोर्ताज प्रकाश में आये हैं। आपकी रचनाओं में बल, वेग और सामाजिक चेतना है; उन्माद, आँधी की गति और बरसाती नदी का वेग है; और किनारे काटकर वन-भूमि में फैल जाने की स्वच्छन्दता है।

'घरौंदे' विद्यार्थी-जीवन की कथा है। राजनीति के धागे में पिरोयी यह अनेक प्रणय-कथाओं की लड़ी है। कामेश्वर और नादानी, रानी, हरी, और विनोद, राजेन्द्र और लवंग, भगवती, लीला और इन्दिरा—इनके उन्माद-पूर्ण सम्बन्धों की विवेचना उपन्यास में है। बीच-बीच में सूत्रधार के वक्तव्यों के समान साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और सामन्तवाद पर लेखक की सबल भाषा में आक्षेप हैं। 'घरौंदे' वास्तव में एक विद्रोही युवक की रचना है, जिसके विचारों की पुरानी नींव टूट चुकी है और नयी अभी बन ही रही है। रचना-कार का विश्वास प्राचीन मान्यताओं में खण्ड-खण्ड हो चुका है; सभी आदर्श उसके मिट चुके हैं, और नये अभी तक स्थिर नहीं हो सके। इसी अविश्वास के कारण वह केवल चोट करना जानता है, विशेषकर नारी पर, और समाज में नव-निर्माण की दीप्ति नहीं देख पाता। उसके पात्र केवल स्केच रह जाते हैं, जीवन से आकुल वह विकसित नहीं होते। वास्तव में कॉलेज की चहार-दीवारी से निकलकर ही, जहाँ अनेक ग्रन्थियाँ उसके मन में बन चुकी हैं, लेखक की कल्पना उन्मुक्त होकर उड़ी है। राजेन्द्र के गाँव में उपन्यास का सर्वश्रेष्ठ अंश विकसित हुआ है। यहाँ लेखक अपने को भूल गया है और जमींदार के चरित्र में, सुन्दर की कथा में, गाँव के वर्णन में उसने अनन्त जीवन

उँडेला है। अन्यथा 'घरौंदे' उपन्यास न होकर सशक्त और मोहक भाषा में लिखे विद्यार्थी-जीवन के अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण स्केचों का संग्रह है।

हमें यह कदापि न भूलना चाहिए कि 'घरौंदे' के लेखक में प्रतिभा है। यह उसका सर्वप्रथम उपन्यास है। वह अपना जीवन-दर्शन खोजने में लगा है और क्रान्तिकारी विचार-दर्शन अपना रहा है। यही धरती आगे चलकर शस्य-श्यामला होगी और हिन्दी साहित्य का भण्डार भरेगी।

'घरौंदे' वयःसन्धि का उपन्यास है। इसमें यौन-सम्बन्धों पर विद्यार्थियों की उन्मादपूर्ण दृष्टि पड़ी है। जिस जीवन की कल्पना इस उपन्यास में है, वह साधारणतया भारतीय विद्यार्थियों को उपलब्ध नहीं। लीला शिकार खेलने जाती है, लड़कों के साथ स्वच्छन्द मिलती-जुलती है, उनके साथ एक मेज पर बैठती है, जिस पर शराब चल रही है, मोटर लिये अकेली चाहे-जहाँ घूमती फिरती है। कैप्टेन राय कहीं इस मामले में रोक-टोक नहीं करते। जितना सिगरेट का धुँआ उपन्यास में उड़ा है, वह विद्यार्थी-जीवन के होम के लिए काफ़ी है। एक स्थान पर तो एक-साहब वियर पीकर ही बेहोश हो गये और कै करने लगे! (पृष्ठ १५०-२)

उपन्यास में 'मांसल' शब्द का निरन्तर प्रयोग हुआ है। कथा की सभी नायिकाएँ 'मांसल' हैं। 'एक पतली-दुबली मगर मांसल लड़की···' (पृष्ठ १२)। आरम्भ से अन्त तक कथा में इस मांसलपन का निर्वाह हुआ है।

रेखाचित्रों में कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक कटुता आ गयी है। उदाहरण के लिए सेक्रेटरी के वर्णन में : "वह क्लर्क जो दफ़्तरी से बढ़कर कुछ नहीं काम की जिम्मेदारी से सेक्रेटरी की इज्जत पा रहा है। पितृ-पक्ष में कौआ भी श्राद्ध के लिए जरूरी हो जाता है।'

कथा को भगवती के जीवन-सूत्र में पिरोया गया है। भगवती गाँव से आकर यौवन और उन्माद भरे कॉलेज-जीवन में फँस जाता है। उच्चतम वर्ग की विलास-लहरियाँ उसके चतुर्दिक् हिलोर मारती हैं, किन्तु उसके चट्टान

सरीखे व्यक्तित्व से टक्कर खाकर पीछे गिर-गिर पड़ती हैं। इस नष्टप्राय अभिजात समाज में वह पुनर्जीवन का प्रतीक है।

भगवती के इर्द-गिर्द कथानक का जाल बुना गया है। कथा मानो स्वतन्त्र घटनाओं का पुञ्ज है, जिसमें परस्पर तारतम्य तो है, किन्तु जिसमें जीवन का स्वतन्त्र विकास नहीं। कथानक फूल की भाँति नहीं खिलता, पौधे की तरह नहीं बढ़ता ; अनेक तारों की बंटी हुई वह एक माला-भर है। राजेन्द्र के गाँव में पहुँचकर कथा-सरिता की अविरल गति से बढ़ती है और दो जीवित पात्रों की सृष्टि करती है, सर वृन्दावन और सुन्दर। यह मानो एक स्वतन्त्र कहानी है जिसके नायक वृन्दावन हैं और नायिका सुन्दर।

रांगेय राघव प्रगतिशील विचार-दर्शन को अपना रहे हैं। इस कारण उनकी रचना में एक दृढ़ता और शक्ति है, जो आज के परम्परागत साहित्य में नहीं मिलती। आपका हृदय भग्न समाज व्यवस्था के प्रति अनासक्ति और उपेक्षा से भर गया है और वह आपकी रचनाओं में उबलकर, उफनकर निकलती है। व्यंग से, रोष से, दर्प से आप अपनी कला के तीव्र, चमकते अस्त्र से उस व्यवस्था पर आघात करते हैं और आपके तीखे प्रहार से मानो खँडहर काँप जाता है।

कथा के बीच-बीच आपके विद्रोही विचार गुड़ी भूमि पर बीज की भाँति छिटके हुए हैं। निरन्तर आप घटनाओं पर, पात्रों पर, समाज की विषमताओं पर टीका करते हैं और अनायास ही आपके अन्तर की व्यथा, मर्म की चोट प्रकट होती है। एक स्थान पर आप कहते हैं : "कहाँ है वह आजादी का गर्म खून। देखो, सड़क ही कितनी ग़रीब है !! कितनी सड़ी मौत की-सी बेहोशी है !! आज दुनिया में इतना कष्ट, इतनी पीड़ा है कि दुनिया की हर चीज गौतम बुद्ध हो सकती है। हम-तुम तो बंजर के फूल हैं।..." (पृष्ठ १०२)

इस उपन्यास की लम्बी यात्रा में लेखक का सर्वोत्कृष्ट सहारा उसकी पुष्ट, सबल गद्य-शैली है। उसका एक-एक वाक्य तीर की तरह लक्ष्य पर बैठता है, अथवा घन की तरह पाठक के हृदय पर चोट करता है। उसके

गद्य में जीवन के प्रति कितनी त्रुटी; कुण्ठित, मर्मव्यथा है, जो वाक्य-प्रवाह में निरन्तर फूटकर निकलती है :

"कालेज अपने सिर पर सूली लिये खड़ा है।..." (पृष्ठ ७)

"एक कछुआ है ; वह जीवन है, समाज है !

एक खरगोश है ; वह यौवन है, व्यक्ति है।

एक दौड़ है ; वह स्पर्धा है, मंजिल का अन्त नहीं है।...."
(पृष्ठ ७४)

"टीम हार गई थी; जैसे किसान खेती करके खड़ा था, मगर जमींदार के कारिन्दे उसकी मेहनत को छीन ले गये थे, अपने लिए नहीं, दूसरों की सल्तनत का एक नया खम्भा बनाने के लिए।..." (पृष्ठ १०१)

इस गद्य में निरन्तर काव्य का रस भी हिलोर मारता है, और मलय-पवन के समान प्राणों को शीतल करता है :

'पानी की रिमझिम बूँदें टपक रही थीं। सुदूर हिन्द महासागर का संदेशा लानेवाली घटाएँ बूँद-बूँद करके झर रही थीं, जीवन बरसा रही थीं।...." (पृष्ठ १००)

'घरौंदे' में युवा-जीवन की हलचल है, उन्माद है, और तीव्र विद्रोह-भावना है। इसके स्वर में शक्ति है, दृढ़ता है। इस जीवन का मर्मान्तक वर्णन हृदय पर आघात करता है, मस्तिष्क को चौंका देता है। लेखक ने 'घरौंदे' बनाये हैं, आगे चलकर वह घर भी बनायेगा। यह विकास का स्वाभाविक क्रम है। जैसी शक्ति श्री रांगेय राघव ने अपने प्रथम प्रयास में प्रगट की ही है, वह साहित्य की साधारण घटना नहीं। यह हिन्दी में एक नयी सृजन-शक्ति के अभ्युदय की सूचना है।

हमारी साझेदारी है, जो बिरला-नफ़ील्ड और टाटा-आई-सी-आई की साझेदारी का राजनीतिक पहलू है। नित्य-प्रति एशिया की जनता के मुक्ति-संघर्ष को दबाने के लिए साम्राज्यवादी सैनिक और राजनीतिक सम्मेलनों में हम भाग लेने लगे हैं ! यह सम्मेलन निरन्तर लंदन, कोलोम्बो, ऑस्ट्रेलिया, फ़िलीपीन और भारत में होते रहे हैं।

जब तक इस 'औक्टोपस' के आलिंगन से भारतीय जनता मुक्त नहीं होती, तब तक एक समृद्धिशाली देश का स्वप्न यथार्थ नहीं हो सकता। साम्राज्यवाद औपनिवेशिक देशों में वर्तमान जर्जर सामन्ती व्यवस्था को क़ायम रखना चाहता है, क्योंकि यदि उपनिवेशों में औद्योगिक क्रान्ति होती है, तो साम्राज्यवाद अपने आर्थिक शोषण के अड्डे हाथ से खोता है। आज की परिस्थिति में जनता ही औद्योगिक क्रान्ति की अगुआई कर सकती है, पूँजीपति वर्ग नहीं। सामन्त और बड़े पूँजीपति साम्राज्यवादियों के साथ मिल जाते हैं, क्योंकि जितना वे जन-क्रान्ति से घबराते हैं, उतना साम्राज्यवाद के शोषण से नहीं, विशेष रूप से जब उन्हें भी जनता की लूट में साझा मिल जाता है।

(३) भारतीय लेखकों को साम्राज्यवादियों, सामन्तों और बड़े पूँजीपतियों के गुट के खिलाफ़ जनता के विराट् संयुक्त मोर्चे का हिस्सा बनना है। लगभग सभी सचेत और ईमानदार लेखक इस मोर्चे में शामिल होंगे। यह सम्भव है कि कुछ लेखकों के मन में अभी तक कांग्रेस की नेताशाही के सम्बन्ध में भ्रम हों, लेकिन दिन-प्रतिदिन वे दूर होते जा रहे हैं। लेखकों के इस संयुक्त मोर्चे के अनेक स्तर होंगे। वह लेखक भी, जो अभी तक नेहरू-सरकार से आशाएँ रखते हैं, अनेक मामलों में हमारे साथ आ सकते हैं। नागरिक स्वाधीनता, अन्न-संकट, शान्ति और विश्व-मैत्री, एवं सोवियत, चीन और कोरिया, सम्बन्ध अनेक मामलों में वे हमारे साथ आ सकते हैं। शत-प्रतिशत एकमत होना असम्भव है। इसलिए जितना भी हम सहमत हो सकते हैं, उसको आधार बनाकर आगे बढ़ सकेंगे। यह भी हो सकता है कि कुछ लेखक हमारे साथ एक समस्या के सिलसिले में आयेंगे, और

कुछ दूसरे मसले पर। परन्तु निरन्तर हमें इस संयुक्त मोर्चे का दायरा बढ़ाना है।

माओ अपने निबन्ध में इस संयुक्त मोर्चे को एक केन्द्र के चारों ओर निरन्तर बड़े होते हुए वृत्तों (Concentric circles) के रूप में देखते हैं। इस मोर्चे का ठोस केन्द्रीय भाग समाजवाद को स्वीकार करने वाले लेखक होंगे, क्योंकि वे मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त तक विरोध करने को तैयार हैं। और संयुक्त मोर्चे के अन्तिम वृत्त में वे सभी लेखक आ जाएँगे, जो किसी-न-किसी जगह साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का विरोध करते हैं।

हम राजनीतिक और सामाजिक मामलों में लेखकों को एकमत अधिक आसानी से कर सकते हैं। साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध में आपस में मतभेद होंगे, जिन्हें सहन करना चाहिए। किन्तु सभी मत इस मोर्चे में व्यक्त हो सकेंगे, और उनकी आलोचना का अधिकार समान रूप से सबको होगा। इस प्रकार साहित्य और कला के क्षेत्र में भी हम अधिक स्पष्ट हो सकेंगे।

(४) हमको यह भी स्मरण रखना है कि अनेक विचारधाराएँ और विचार-दर्शन साहित्य के क्षेत्र में प्रगट होते हैं, जो सीधे शासक-वर्ग की सेवा करते हैं, जो एक-न-एक अर्थ में जनता के लिए 'अफ़ीम' का काम करते हैं। इनको हम एक हद तक साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के पोषक कह सकते हैं। ऐसे विचारों के विरुद्ध निर्मम संघर्ष करना हमारा कर्तव्य है। ऐसी विचारधाराओं के पोषक भी हमारे संयुक्त प्रदर्शनों और सभाओं में शामिल होंगे, किन्तु उनकी विचारधाराओं के विरुद्ध आलोचना का अधिकार हम नहीं त्याग देते।

कौन सी विचार-धाराएँ आज हमारी जनता के विराट् जन-मोर्चे को शासक-वर्ग के सामने निरस्त्र करती हैं ?

आदर्शवादी दर्शन, जो मूलतः इस जगत् को अगम, अज्ञेय समझते हैं और इसे मनुष्य के अधिक रहने योग्य बनाने में मदद नहीं देते, विवेक और बुद्धि के स्थान पर जो रहस्यवाद को आसीन करते हैं। इन विचारों के

प्रमुख समर्थक राजनीति में प्रतिक्रियावाद के समर्थक पाए जाते हैं, क्योंकि वे इस समाज-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं चाहते। श्री अरविन्द के विचार-दर्शन पर इस घटना से कुछ प्रकाश पड़ता है कि फ्रैंच भारत के लिए उन्होंने साम्राज्यवादी योजना को पसन्द किया और कोरिया के मामले में वे आशंकित हुए कि कहीं ट्रूमैन नरम न पड़ जायँ! इस प्रकार पांडेचेरी के सन्त ने, जो संसार से विरक्त होने का दावा करते हैं, इस दुनिया में अपने मित्रों का खुले-आम ढोल पीट दिया। श्री अरविन्द के ही समान पश्चिम के अन्य 'योगी' लुई फ़िशर, क्वैसलर आदि एशिया की स्वाधीनता की जेहाद के मामले में अपने को बेनक़ाब करते हैं।

अरविन्द दर्शन और गांधीवाद आज साम्राज्यवादियों के विशेष प्रिय दर्शन बन गए हैं। परलोक और अहिंसा के नाम पर यह दर्शन शत्रु के सामने जनता को निरस्त्र करते हैं। यदि चीनी जनता चियाँग के विरुद्ध अहिंसा का मन्त्र पढ़ती, तो वह भी आज भारत के समान साम्राज्यवादियों के शोषण का शिकार होती! इसीलिए अहिंसा आज ट्रूमैन को इतनी प्रिय है। उनके हाथ में एटम बम हो, और एशिया की जनता के पास अहिंसा, तभी अमरीकी 'जनतन्त्र' पनप सकता है!

भारत के नवजात शासक-वर्ग को भी अहिंसा का मन्त्रपाठ बहुत प्रिय है। अपनी आय का ६०% भाग सेनाओं पर खर्च करके, जनता पर और क़ैदियों तक पर निरन्तर गोलियाँ चलाकर वह हमें अहिंसा का पाठ सिखाने से नहीं चूकता।

गांधीवाद शासक-वर्ग को इसलिए भी प्रिय है कि वह शोषक और शोषित-वर्ग में सहयोग की सीख देता है। शासक-वर्ग की करुणा और स्वेच्छाचार पर वह जनता को छोड़ना चाहता है। एक बार डा० पट्टाभि सीतारमैया ने, जो गांधीवाद के एक प्रमुख स्तम्भ हैं, अहिंसा की विवेचना करते हुए कहा था कि अहिंसा केवल ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रयोग के लिए है। जहाँ तक दूसरे लोगों का सम्बन्ध है, वे लाठी का उत्तर लाठी से देंगे।

अन्य विचारधाराएँ, जो जनता को पथभ्रष्ट कर रही हैं, साम्प्रदायिकता से सम्बन्धित हैं। जनता की एकता की अभेद्य दीवार में दरार डालकर साम्प्रदायिकता शासक-वर्ग की विचारधाराओं के लिए रास्ता बनाती है। पुनरुत्थानवाद, अन्ध-राष्ट्रवाद, हिन्दी-हिन्दूवाद आदि इसके कुछ प्रगट रूप हैं।

जाति और राष्ट्रगत भावनाओं को विकृत करके और भड़काकर शासक-वर्ग फ़ासिज़्म किस तरह क़ायम रखता है, इसका उदाहरण जर्मनी का पिछला इतिहास है। हमारे देश में मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने भी इसी प्रकार फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का पोषण किया। इंगलैंड में यदि एटली कहते हैं कि कम्यूनिज़्म उनकी प्रिय पाश्चात्य ईसाइयत के विरुद्ध पूर्व की बर्बरता का हमला है, तो भारत के कुछ तथाकथित विद्वान् कम्यूनिज़्म को पूर्व की संस्कृति के ख़िलाफ़ पश्चिम की बर्बरता का हमला कहते हैं। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम के भेदों को बढ़ाकर प्रतिगामी विचारधाराओं का पोषण किया जाता है, और पूर्व और पश्चिम का प्रतिक्रियावाद एक मंच पर मिलता है।

हिन्दी साहित्य में पुनरुत्थानवाद, साम्प्रदायिकता और अन्ध-राष्ट्रवाद की भावनाएँ काफ़ी हावी हैं। भाषा के क्षेत्र में इन भावनाओं को बहुत प्रोत्साहन मिलता है। सभी जनवादी लेखक इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि हमारे देश में सभी भाषाओं को समान रूप से विकास करने का अधिकार होना चाहिए, लेकिन फिर भी हिन्दी के लिए कुछ लेखक विशेष अधिकार चाहते हैं, यहाँ तक कि वे हिन्दी को भारत के सभी प्रान्तों में हाईकोर्ट्स और विश्वविद्यालयों की भाषा बनाना चाहते हैं, हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद देते हैं, यद्यपि भारत बहु-जातीय, बहु-भाषा-भाषी देश है, और भाषाओं के आधार पर सूबों के निर्माण तक का विरोध करने लगते हैं। हमें यह स्पष्ट रूप से समझना है कि भारत की एकता का दृढ़ आधार जनवादी सिद्धान्त ही बन सकते हैं, एक भाषा और जाति का दूसरी भाषा और जाति द्वारा मर्दन नहीं।

जन-विरोधी विचार-धाराओं की दृढ़ आलोचना करके ही प्रगतिशील और जनवादी लेखक अपने संयुक्त मोर्चे को मजबूत बना सकते हैं। इसी आधार पर हम जनता की एकता उत्तरोत्तर अधिक अटूट बना सकेंगे।

(५) हिन्दी में कुछ साहित्यिक दलों का जिक्र करके हम देख सकते हैं कि इनमें से कौन संयुक्त मोर्चे के बाहरी वृत्त में भी नहीं आते, और कौन किस वृत्त में खड़े हैं।

(अ) पहला दल उन लेखकों का है, जो सचेत रूप से शत्रु-सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं, और निरन्तर जन-विरोधी भावनाओं का प्रदर्शन करते हैं। वे नेहरू-पटेल की बिरदावली गाते हैं, और नेहरू-सरकार के समर्थक हैं। जो लेखक ईमानदारी से जनता की सेवा करना चाहते हैं, उन्हें हम विश्व-शान्ति के आन्दोलन आदि में अपने समीप अवश्य ला सकते हैं, किन्तु यहाँ हम केवल उस दल की चर्चा कर रहे हैं, जो राजनीति में प्रतिक्रियावाद का समर्थक है। इस प्रतिक्रियावाद के अन्य रूप भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में अन्ध-राष्ट्रवाद, साम्प्रदायिकता आदि में भी प्रगट होते हैं। इन लेखकों को भी भूख, बढ़ती क़ीमतें, बेकारी, अकाल आदि के खिलाफ़ दिन-प्रति-दिन के जन-आन्दोलनों में हम साथ लेने की कोशिश करेंगे, और इस प्रकार घोर प्रतिक्रियावादियों को अलग करने की कोशिश करेंगे।

साहित्यिक विचार-धाराओं के रूप में प्रतिक्रियावाद मनोविश्लेषणवाद और प्रयोगवाद का रूप रखकर आता है। इनको भी जन-विरोधी सिद्धान्तों के रूप में देखना चाहिए।

(ब) दूसरा दल उन लेखकों का है, जो आदर्शवादी विचार-दर्शन और गांधीवाद के भक्त होते हुए भी शान्ति, अकाल, साम्प्रदायिक वैमनस्य आदि के मसलों पर हमारे साथ आते हैं। इन लेखकों से हमें अपना सम्बन्ध दृढ़तर बनाना चाहिए। इस दल में हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित और बिचली पीढ़ी के बहुत से साहित्यिक आते हैं।

(स) तीसरा दल उन लेखकों का है, जो समाजवाद को पूरी तरह समझे या स्वीकार किए बिना भी इस समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन चाहते

हैं। वे शान्ति के, सोवियत के, चीन और कोरिया के, नागरिक अधिकारों के समर्थक हैं। कभी-कभी उनके विचार चाहे डगमगाते हों, किन्तु हम उन्हें काफ़ी दूर तक अपने साथ ले चल सकते हैं। भाषा और संस्कृति के मामले में हमारे मतभेद इनके साथ बढ़ जाते हैं, लेकिन संयुक्त मोर्चे से सभी भाषाओं और संस्कृतियों के समान अधिकारों की जनवादी माँग उठाकर हम इन्हें अपने साथ ले सकते हैं। साहित्य और कला के सम्बन्ध में संयुक्त मोर्चे में भिन्न मत होंगे, क्योंकि संयुक्त मोर्चे में अनेक वर्ग और दल शामिल होंगे, और वे अपने साथ अपनी वर्गगत और दलगत विचार-धाराओं और भावनाओं को लायेंगे। इनका स्पष्टीकरण आलोचना और आत्म-आलोचना द्वारा होगा।

(द) संयुक्त मोर्चे का ठोस बिचला अंश मार्क्सवादी लेखक होंगे। इनको अपना अध्ययन अधिक गहरा और गम्भीर करना होगा, तभी वे जनवादी सांस्कृतिक मोर्चे के नेतृत्व का भार सफलतापूर्वक उठा सकते हैं। इन लेखकों को अपनी निष्पक्ष आत्म-आलोचना करनी होगी, तभी वे अन्य मित्र-लेखकों की आलोचना भी सफलतापूर्वक कर सकेंगे। उन्हें मार्क्सवाद पर अधिकार अधिकाधिक परिपक्व बनाना होगा, तभी वे समाज और संस्कृति के प्रवहमान, बदलते स्वरूप को ठीक से पहचान सकेंगे और समाजवादी यथार्थ को साहित्य और कला के आदर्श के रूप में अन्य लेखकों के सामने रख सकेंगे।

(६) प्रगतिशील लेखक-संघ के द्वार उन सभी लेखकों के लिए खुले हैं, जो साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और बड़े पूँजीपतियों के खिलाफ़ हैं, और भारत की सच्ची स्वाधीनता चाहते हैं। प्रगतिशील लेखक-संघ को इसी आशय का एक नया घोषणा-पत्र भी तैयार करना चाहिए।

प्रगतिशील लेखक-संघ को आज लेखकों का एक विराट मोर्चा बन जाना चाहिए। मार्क्सवादी लेखक प्रगतिशील लेखक-संघ के एक महत्त्वपूर्ण अंग होंगे, किन्तु हमें उन नए-पुराने सभी लेखकों को संघ में लाना चाहिए, जो समाजवाद को पूर्ण रूप से न समझते अथवा स्वीकार करते हुए भी जनवादी

चेतना रखते हैं, और साहित्यिक और सांस्कृतिक मसलों पर भिन्न मत रखते हुए भी राजनीतिक रूप से हमारे साथ हैं।

प्रगतिशील लेखक-संघ को अन्य लेखकों से भी संगठनात्मक सम्बन्ध बनाना चाहिए। विशेष अवसरों के लिए, जैसे भारतेन्दु-दिवस, प्रेमचन्द-दिवस, चीन-दिवस अथवा अक्तूबर-क्रान्ति-दिवस मनाने के लिए हम संयुक्त समितियाँ बनाएँ और संयुक्त सभाएँ करें। जहाँ कहीं सम्भव हो, इन समितियों को हम अधिक स्थायी रूप देने का प्रयत्न करें, किन्तु शुरू में तो संयुक्त हस्ताक्षरों से ही किसी मसले पर एक होकर काम करना आगे बढ़ा हुआ क़दम होगा।

लेखक की आर्थिक समस्याओं को उठाकर हम इस संयुक्त मोर्चे को विराट रूप और आसानी से दे सकते हैं।

(७) लेखकों का एक विराट जनवादी मोर्चा बनाना आज हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसे पूरा करने के लिए हमें भरसक प्रयत्न करना होगा। लेखकों को अपने नज़दीक लाने के लिए पिछले संकीर्णतावादी संस्कारों को त्यागना होना, वस्तुस्थिति को ठीक से आँकना होगा, अपने अहंकार को तजना होगा। हमें धैर्य से काम लेना होगा और अध्यवसाय और गम्भीरता अपनानी होगी। सबसे आवश्यक बात यह है कि हमें अपना अध्ययन अधिकाधिक गहरा करना होगा, तभी हम इस महत्त्वपूर्ण मोर्चे का नेतृत्व करने में समर्थ हो सकते हैं।

साहित्य और राजनीति

साहित्य और राजनीति के परस्पर सम्बन्ध को लेकर आजकल हिन्दी में बहुत-कुछ कहा और लिखा जा रहा है। मुख्य प्रश्न यह हैं—क्या साहित्य को राजनीति से अलग नहीं रक्खा जा सकता? किस राजनीति से साहित्य का सम्बन्ध होना चाहिए? इस साहित्य की रूप-रेखा क्या होगी?

पण्डित नन्द दुलारे बाजपेयी कहते हैं—हमें पश्चिम के वादों से बचना चाहिए; हमें अपनी भारतीय परम्परा से प्रेरणा लेनी चाहिए; हमे जीवन से निकट सम्पर्क स्थापित करना चाहिए, तभी हम अच्छा लिख सकते हैं। बाजपेयी जी की अनेक बातो से हम सहमत हैं, और कुछ से असहमत। लेखक को जनता से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, तभी वह जन-जीवन के बारे मे मार्मिकता से लिख सकता है। बिना इस निकटतम सम्बन्ध के कलाकार की रचना उथली रहेगी। यह बात प्रगतिशील लेखकों पर और भी लागू होती है। हमें अपनी कला की जननी धरती को, जनता को अच्छी तरह जानना चाहिए, अन्यथा हमारी कला नारेबाजी-मात्र रह जायगी। जहाँ जनता है, वहाँ हमें पहुँचना चाहिए; तभी हमारी कला में एण्टियस के समान बल आ सकेगा।

अपनी परम्परा से भी हमें सभी मूल्यवान अणु लेकर आगे बढ़ना है। सर्वहारा संस्कृति हवा में नहीं बनती; पिछले युगो की सर्वोत्तम परम्परा के उत्तराधिकार को लेकर वह आगे बढ़ती है। किन्तु हम प्राचीन परम्परा के पाश मे बन्दी भी नही है। हम उसके जनवादी तत्वों को अपनाते हैं और जो हमारे काम की वस्तु नहीं है उसे छोड़ देते हैं। हम भाषा, कला, टेक्नीक आदि के विकास का भी पूरा उपयोग करते हैं, और उस विकास-क्रम को आगे बढ़ाते हैं। हम तुलसी और सूर के आध्यात्मिक विचार-दर्शन को आज

नहीं अपना सकते; किन्तु जनता के प्रति उनका प्रेम, उससे निकटतम उनका सम्बन्ध, उनके काव्य का जन-सुलभ रूप आदि अनेक तत्त्व हमारे लिए आज भी अमूल्य हैं।

हम अपने देश की मिट्टी की उपज हैं और उसी से पोषित होते हैं। हमारी कला प्राचीन इतिहास को नए युगों की मंजिल तक पहुँचाती है। प्रगतिशील हिन्दी साहित्य प्रेमचन्द, छायावादी काव्य और शुक्ल जी के आलोचना-शास्त्र का स्वाभाविक विकास है। किन्तु आज के भारत मे जो नए परिवर्तन हो रहे हैं, उनको साहित्य में व्यक्त किए बिना भी हम नहीं रह सकते। पश्चिम के विकास की प्रतिध्वनि हम नहीं हैं; किन्तु हमें स्मरण रखना है कि पूँजीवाद की समस्याओं, उसके अन्तर्विरोधों और शोषण का एक-मात्र उपाय समाजवाद है। यदि हम भारत में पूँजीवाद के समान पाश्चात्यवाद को आने से नही रोक सके, तो फिर समाजवाद भी अनिवार्य है। इसी प्रकार साहित्य में पूँजीवाद की देन, नये आलोचना-शास्त्र, कथा-साहित्य और व्यक्तिवादी काव्य का आगमन अवश्यम्भावी है। जब साहित्य और कला पर पूँजीवादी सम्बन्धों का प्रभाव पड़ता है, तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप समाजवाद का प्रभाव भी हमें ऐतिहासिक घटना के रूप में ग्रहण करना चाहिए। सामन्ती भारत काल-कवलित हो रहा है, और उसे कोई भी आचार्य और शास्त्री संजीवनी बूटी पिलाकर नहीं बचा सकता।

एक और भी बात है। केवल जीवन से निकट सम्पर्क कलाकार के लिए काफ़ी नहीं। उसका एक जीवन-दर्शन भी होता है। यह जीवन-दर्शन उसे दिव्य दृष्टि दे सकता है, यदि वह सही दर्शन है। ग़लत दर्शन उसे पथ-भ्रष्ट करेगा। आज की परिस्थिति में सामन्ती विचार-दर्शन हमारा उद्धार नहीं कर सकता। अनजाने में भी हमारा कुछ-न-कुछ जीवन-दर्शन होता है, चाहे उसकी रेखाएँ अस्पष्ट हों। आधुनिक युग का सामाजिक प्राणी यह जरूर चाहेगा कि उसका जीवन-दर्शन सचेत हो, और विज्ञान की दृष्टि से परखा हुआ हो।

साहित्य और कला के पीछे कुछ-न-कुछ राजनीति अवश्य निहित रहती है, यद्यपि सदैव ही सीधा राजनीति से उसका सम्बन्ध नहीं होता। चन्द बरदाई ने पृथ्वीराज का गुणगान किया, भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल का। सामन्ती काल में इसके अतिरिक्त और कुछ सम्भव भी न था। आश्चर्य इस बात का है कि जो शासन-तन्त्र की प्रशस्तियों को राजनीति की आराधना नहीं समझते, जनता और क्रान्ति को राजनीति की पदवी से विभूषित कर उसे त्याज्य बताते हैं।

इस सम्बन्ध में मार्क्सवाद की शिक्षा स्मरण रखने योग्य है। मार्क्सवाद हमें सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का महत्व सिखाता है। बिना सिद्धान्त के प्रयोग अन्धा होता है, और बिना प्रयोग के सिद्धान्त विफल होता है। हमारे सभी चिन्तन के पीछे सामाजिक और राजनैतिक सम्बन्धों की भूमिका है, और इनके प्रभाव से बचना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे शून्य में रहकर बौद्धिक क्रिया। राजनीति भी एक सापेक्ष वस्तु है; ब्रह्म के समान निर्लेप और निरपेक्ष नहीं। चिरकाल से ही हम समाज में मुख्यतः दो शक्तियों का अस्तित्व देखते हैं—शासक-वर्ग और शासित जनता। इस सत्य से इन्कार करना असम्भव है। कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र के अनुसार इतिहास में निरन्तर हम इन दो शक्तियों को देखते हैं—मुक्त नागरिक और दास, सामन्त और भू-सेवी, पूँजीपति और श्रमजीवी। राज्य-सत्ता के साथ-साथ ज्ञान, विज्ञान, संस्कृति और कला पर शासक-वर्ग का एकाधिपत्य होता है। जिस वर्ग का शिक्षा के माध्यम पर अधिकार होता है, उसी के पास संस्कृति की निधि होती है।

आज के भारत में भी हम दो राजनीति देखते हैं, जो समाज के दो विभिन्न पक्षों की राजनीति है। एक वर्ग आज के शासन-विधान का हिमायती है, और उसे क़ायम रखना चाहता है, दूसरी ओर विशाल जन-समुदाय इस व्यवस्था के उत्पीड़न से मुक्ति चाहता है। साहित्य और कला में भी हम इन दो विचार-धाराओं का संघर्ष देख सकते हैं। एक राजनीति जनता के हितों का समर्थन करती है, और साहित्य में भी उसी को स्वर देती है। यह

राजनीति दुनिया में, और विशेष रूप से भारत में, शान्ति, जनतन्त्र, नागरिक अधिकारों और रोटी-रोजी की माँग करती है। इस माँग का समर्थन करने वाले कला और साहित्य आज की परिस्थिति में प्रगतिशील कला और साहित्य हैं। शासन वर्ग को बल और बढ़ावा देने वाले कला और साहित्य प्रतिक्रियावादी ही कहे जा सकते हैं।

प्रतिगामी कला राजनीति से ऊपर होने का स्वाँग भरकर ही जनता को आज गुमराह कर सकती है। अभी हाल में दिल्ली में एक संस्कृति-स्वाधीनता-सम्मेलन होने वाला है। इसका उद्देश्य कलाकार के स्वाधीन व्यक्तित्व की मतवादों से रक्षा करना है। इसके संयोजकों में इस देश के कुछ गण्य-मान्य लेखकों के नाम देखकर आश्चर्य होता है। सुनते हैं कि सम्मेलन के आयोजन में अमरीकी दूतावास विशेष दिलचस्पी ले रहा है। इसके सभापति-पद के लिए अणु-बम के प्रधान समर्थक बर्टरैण्ड रसैल आमन्त्रित किये गए हैं। राजनीति से ऊपर चलने वाले इस सम्मेलन का अन्त अणु-बम और अमरीकी साम्राज्यवाद की बर्बरता के पृष्ठ-पोषण में होता है![1]

यह भी कहा जाता है कि जनता की राजनीति के समर्थक कलाकार अच्छी कला की सृष्टि नहीं कर रहे। इस आक्षेप पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना जरूरी है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस मर्मस्पर्शी, महान् प्रगतिशील कला की सृष्टि हम करना चाहते हैं, वह हम अभी नहीं कर पाए हैं। जो-कुछ हम अभी तक कर सके हैं, उससे हम सन्तुष्ट नहीं हैं। क्या इसका मतलब यह है कि शासक वर्ग की कला प्रगतिशील कला से श्रेष्ठ है? कदापि नहीं। शिल्प और बनाव-शृङ्गार के बावजूद शासक-वर्ग की कला में भावों और विचारों की गहराई और गम्भीरता नहीं। यह शृङ्गार शव के शृङ्गार के समान है। प्रगतिशील कला नवजीवन से ओत-प्रोत है, और भविष्य निश्चय ही उसके साथ है।

प्रगतिशील कला में अनेक खामियाँ रही हैं, उनकी आलोचना करके उन्हें दूर करना जरूरी है। हमें जनता के जीवन का निकट परिचय प्राप्त करना है,

---

१. बाद में यह अमरीकी सम्मेलन बम्बई में हुआ।

तभी हम अपने चित्रण में मार्मिकता ला सकते हैं। ऊपरी, छिछला सम्पर्क सबल कला की सृष्टि में सहायक नहीं होगा। हमें अपने विचार-दर्शन पर भी दृढ़ अधिकार प्राप्त करना है, तभी हम जन-जीवन का सही मूल्यांकन कर सकेंगे। बिना सिद्धान्त पर अधिकार प्राप्त किये हम अन्ध-बधिर रह जायँगे। पिछले दिनों हमारा बहुत-सा साहित्य केवल नारेबाजी तक सीमित रह गया। हर देश में प्रगतिशील कला को इस रोग का सामना करना पड़ा है। प्रसिद्ध हंगेरियन नेता जोज़ेफ़ रेवाई हंगरी के प्रगतिशील साहित्य में भी यह कमजोरियाँ पाते हैं।

कलाकार को सचाई से अपनी अनुभूति को व्यक्त करना होगा, तभी वह पाठक का हृदय छू सकता है। यदि उसकी रचना पाठक को प्रभावित नहीं करती, तो वह अपने उद्देश्य में निष्फल होती है। साहित्य गहरी भावनाओं और उदार विचारों की अभिव्यक्ति से ऊँचा पद पाता है। साहित्य जीवन के गहरे और विचलित कर देने वाले अनुभव से पैदा होता है। हमारा जीवन-दर्शन उस अनुभव को अर्थ देता है, और उसे स्पष्ट करता है। भावनाओं के तीव्र क्षणों में साहित्य की सृष्टि होती है; प्रगतिशील विचार-दर्शन भावनाओं को मुखरित करता है, और उन्हें दिशा देता है। बिना प्रगतिशील विचार-दर्शन के, भावना-मात्र पर अवलम्बित साहित्य अन्ततः फ़ासिज़्म के चंगुल में जा फँसता है।

आज हमारे जीवन में सत्साहित्य का भारी महत्त्व है। नृशंस, बर्बर शक्तियों का सामना करने के लिए वह एक महान् अस्त्र हमारे पास है। एक तीसरे युद्ध का खतरा, अणुबम की धमकी, एशिया के देशों में साम्राज्यवाद का नग्न नर्तन, स्वदेशी शासक-वर्ग का उसके साथ गठबन्धन, बढ़ती बेकारी, आर्थिक महामारी और अन्न संकट—इन सभी के साथ संघर्ष करने में प्रगतिशील साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हमारे देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की समस्या इन्हीं सब प्रश्नों के साथ लिपटी हुई है। इन्हें हल करने के प्रयास में ही हम इस देश में एक नई बलवती कला की सृष्टि कर रहे हैं। नये जीवन के आविर्भाव के साथ-ही-साथ हम एक नई संस्कृति की नींव भी रख रहे हैं।

साहित्य और जनता

साहित्य किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं होता। उसका उपभोग सम्पूर्ण समाज का जन्मसिद्ध अधिकार होता है। इतिहास में अनेक युग आते हैं, जब पूरा समाज उच्चतम साहित्य का भागी होता है : हम कह सकते हैं कि संसार का महान् साहित्य इस परिभाषा में आता है। होमर, शेक्सपियर, तुलसीदास आदि इसके उदाहरण हैं। किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि वर्ग-समाज में साहित्यकार अपने वर्ग विशेष के लिए लिखता है। उसकी वाणी एक परिधि के अन्दर ही चक्कर काटती है, और असंख्य अशिक्षित जनता को अपनी प्रेरणा की तुष्टि के लिए अपने ही साधन खोजने पड़ते हैं।

वर्ग-समाज में कभी ही पाठक-समूह पूरे समाज का पर्याय होता है, कभी तो वह साहित्यकार या उसके इर्द-गिर्द एकाध दर्जन प्राणियों तक ही सीमित हो जाता है। अनेक देशों में अहंवादी कला का यह हाल हुआ है। इसकी अन्तिम सीमा जेम्स जॉयॅस के कथा-साहित्य, ऐजरा पाउण्ड के काव्य आदि में हम देखते हैं। हिन्दी के प्रयोगवादी कवि इस दिशा की ओर बढ़े हैं। यद्यपि दुर्बोधता को उन्होंने चरम सीमा तक अभी नहीं पहुँचाया।

किस पाठक-वर्ग के लिए साहित्यकार लिख रहा है, यह कुछ तो उसके विचारों और अनुभूति आदि पर निर्भर है, और कुछ उसकी कला के रूप भाषा, शैली आदि पर भी। वह तुलसी और कबीर आदि सन्त कवियों की भांति सर्वग्राही भी हो सकता है, और हिन्दी के आधुनिक कवियों की भांति आत्म-तुष्ट भी। वह जनता के लिए भी लिख सकता है, और उसके प्रति उपेक्षा अथवा उदासीनता का भाव भी रख सकता है।

वर्ग-समाज के विकास के साथ कलाकार अपने वर्ग के विचारों और अनुभूतियों को ही अधिकतर व्यक्त करता है। शोषक और शोषित वर्गों के

बीच मध्य-वर्ग का एक बड़ा समुदाय त्रिशंकु के समान अधर मे लटका रहता है। शिक्षा-दीक्षा के कारण वह शासक वर्ग के परिष्कृत जीवन की ओर आकर्षित होता है, और उसकी मानवता उसे उत्पीड़ित सर्वहारा की ओर खीचती है। अन्ततः इस विषम वर्ग-संघर्ष मे हम किसी-न-किसी ओर खड़े होते हैं, और संक्रान्ति काल में मध्य-वर्ग दो भागो मे बँट जाता है। उसका एक अंग विलास और वैभव की मृगतृष्णा की ओर दौड़ता है; दूसरा जनता के संघर्ष में होम होने के लिए कटिबद्ध होता है।

साहित्य किसके लिए रचा जाय ? इसका उत्तर बहुत-कुछ हमारे जीवन-दर्शन पर निर्भर है। हम सोच सकते हैं कि संघर्ष के लिए फौलादी प्राण की आवश्यकता है, हम तो वीणा के तार हैं, जो कोमल, सूक्ष्म अनुभूतियों के मलयानिल से निरन्तर झंकृत हैं। कलाकार की अनुभूतियाँ कोमल और सूक्ष्म होती है, किन्तु उनकी प्रेरणा जीवन का कोई भी अंग हो सकता है, कला से अलंकृत ड्राइंग रूम अथवा संघर्ष की रक्तिम भूमि। वह अपनी प्रतिभा का प्रयोग डैन-न्जियो अथवा पिछले दिनो में हिन्दी के कुछ पथ-भ्रष्ट कवियो के समान फ़ासिज्म अथवा घृणा, विद्वेष और मरण की विचारधारा को अर्पित कर सकता है। वह अपनी कला का प्रयोग जीवन की उदात्त प्रेरणाओ के लिए भी कर सकता है, जैसा गोर्की, मायाकॉवस्की, कोडवैल, अरागो आदि ने यूरोप में किया और प्रेमचन्द, पन्त, 'निराला' आदि ने हिन्दी में, या अभी पिछले साम्प्रदायिता के युग मे नागार्जुन और 'सुमन' ने। कलाकार इस सबसे आँख मींचकर भी बैठ सकता है, किन्तु आज की संघर्षमय परिस्थिति मे यह अधिकाधिक असम्भव हो रहा है। जब देश धू-धू करके जल रहा हो, तब यह कल्पना असम्भव हो जाती है कि स्निग्ध चाँदनी मे कुमुदिनी खिल रही है अथवा ज्योत्स्ना मकरन्द बिखरा रही है! गाधीजी की हत्या के बाद हिन्दी में जो कविताओ की बाढ आई, इनमे कुछ की प्रेरणा तो व्यवसायी थी, क्योंकि स्पष्ट ही कल का फ़ासिस्ट कवि एक रात में अनायास ही जनवादी नही बन जाता, किन्तु अनेक इस बात का भी प्रमाण है कि गांधीजी की हत्या ने इस देश की अन्तश्चेतना को हिला दिया था।

हमारे देश में आज भीषण संघर्ष है। चतुर्दिक् हम भूख, बीमारी और ग़रीबी से उद्वेलित जन-सागर देखते हैं। इस व्यथा का प्रतिबिम्ब हमारी रचनाओं में आएगा ही। दूसरी ओर हम पुरानी व्यवस्था को टूटते हुए, बदलते हुए भी देखते हैं। इसका प्रतिबिम्ब भी हम कला और संस्कृति में देखते हैं। हमें आज निश्चय करना है कि इस संघर्ष में हम कहाँ खड़े हैं। स्पष्ट ही इस संघर्ष के प्रति हम अधिक दिन तटस्थ या उदासीन नहीं रह सकते।

संस्कृति और कला जनता से प्राण और शक्ति ग्रहण करते हैं, और इसके बदले जन-जीवन में सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। जन-जीवन से कटकर अलग हुई कला और संस्कृति उच्चतम आदर्श से गिर जाते हैं : वह अभिजात-कुलों के भोग-विलास की सामग्री-मात्र रह जाते हैं। तब जनता आगे बढ़ने के लिए अपनी कला का निर्माण करती है : वह अपने कला-रूप गढ़ती है, जिनमें वह अपने हर्ष, विषाद आदि के उद्रेक उँडेलती है, अपनी मुक्ति का जिन्हें वह साधन बनाती है।

कलाकार जनता के संघर्षों से विमुख नहीं हो सकता। उसे जनता के बन्धन खोलने हैं, अपने बन्धन खोलने हैं। उसे अपने अहम् की प्राचीर गिरानी हैं, उसे अपने पंख खोलकर 'सम्पाती के समान' उड़ान लेनी है।

सदियों से दलित जनता जब उठ रही है, तब वह क्या पीछे रह जायगा? क्रान्ति की सेना जब आगे बढ़ रही है, तब क्या वह अरण्य-रोदन करता रह जायगा? क्या वह बीन का आलाप लेता रह जायगा, जब रणभेरी बज उठी है? क्या वह प्रलय की बेला में अंगड़ाई लेता रह जायगा?

उसकी समस्त परम्परा उसे आगे बढ़ने का रास्ता दिखा रही है। सन्त कवियों का पथ, अजन्ता के भिक्षुओं का पथ, हमारी साहित्यिक परम्परा का पथ!

आज फिर उसे अपना दण्ड, कमण्डल सम्हालकर पथ का भिखारी बनना है। आज शोषण, दम्भ और पाखण्ड के गढ़ गिर रहे हैं, आज उसे फिर अपना तीसरा नेत्र खोलना है, ताण्डव-नर्तन करना है।

अनाचार और अत्याचार के गढ़ गिर रहे हैं। एक अन्तिम प्रहार, और वह सदा के लिए गिर जायँगे।

नवीन की यह प्रसव-पीड़ा सहनी ही होगी। जरा-जीर्ण जो-कुछ है, उसे भस्म करके ही फ़ीनिक्स के समान नवीन की सृष्टि होगी।

इस विष को पीना ही होगा: इसको पिए बिना देवपुत्र मानव का त्राण नहीं। इसे पीकर ही वह अमर बनेगा!

जनता की पांत आगे बढ़ रही हैं। कौन उन्हें रोक सकता है; और कौन साहित्य और संस्कृति को उनसे दूर रख सकता है?